॥ ओ३म् ॥

संस्कारविधिः

वेदानुकूलैर्गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्तैः षोडशसंस्कारैः समन्वितः आर्यभाषया प्रकटीकृतः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण
श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-स्वामिना निर्मितः

प्रकाशक
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

१७वाँ संस्करण, जनवरी २०१०

संस्कारविधिः

(वेदादिविविधसच्छास्त्रप्रमाणैः समन्वितः)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण

श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-स्वामिना निर्मितः

प्रकाशक/विक्रय-केन्द्र

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

मुख्यालय :

४२७, नया बांस, दिल्ली-६

चलभाष कार्यालय : ९६५०५२२७७८, ९६५०६२२७७८

मूल्य : ३० रुपये

दयानन्दाब्द	:	१८७
विक्रमाब्द	:	२०६७
सृष्टि-संवत्	:	१,९६,०८,५३,१११
पूर्व प्रकाशित	:	१,०९,५००
प्रस्तुत १७वाँ संस्करण	:	१०,०००
कुल योग	:	१,१९,५००

शब्दयोजना :

वैदिक प्रेस, फोनः २२०८१६४६

मुद्रक :

व्रजवासी आर्ट प्रैस लि०

ए-८१, सैक्टर-५,

नोएडा-२०१३०१ (उ.प्र.)

संस्कारविधेर्विषयसूचीपत्रम्

भूमिका १

ग्रन्थारम्भः ३

ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः ४

स्वस्तिवाचनम् ७

शान्तिकरणम् ९

सामान्यप्रकरणम् १२

- यज्ञकुण्डपरिमाणम् १२
- यज्ञसमिधः १३
- होमद्रव्यचतुर्विधम् १३
- स्थालीपाकः १३
- यज्ञपात्रलक्षणानि १४
- यज्ञपात्राकृतयः १५
- ऋत्विग्वरणम् १७
- आचमनम् १८
- मार्जनम् १८
- अग्न्याधानम् १९
- समिदाधानम् १९
- आघारावाज्यभागाहुतयः २०
- व्याहृत्याहुतयः २१
- संस्कारचतुष्टये चतस्रो मुख्याहुतयः २१
- अष्टाज्याहुतयः २२
- पूर्णाहुतिः २३
- महावामदेव्यगानम् २४

गर्भाधानम् २५

- गर्भाधानस्य प्रमाणम् २५
- ऋतुदानकालः २७

पुंसवनम् ३७

सीमन्तोन्नयनम् ४०

जातकर्मसंस्कारः ४३

नामकरणम् ४९

निष्क्रमणसंस्कारः ५३

अन्नप्राशनसंस्कारः ५६

चूडाकर्मसंस्कारः ५८

कर्णवेधसंस्कारः ६२

उपनयनसंस्कारः ६३

वेदारम्भसंस्कारः ७०

- ब्रह्मचर्याश्रमे कर्त्तव्योपदेशः ७४
- ब्रह्मचर्यकालः ७९
- पुनर्ब्रह्मचर्ये कर्त्तव्योपदेशः ८२

समावर्त्तनसंस्कारः ९०

विवाहसंस्कारः ९६

- गृहाश्रमसंस्कारः १३५
- गृहस्थोपदेशः १३५
- पञ्चमहायज्ञाः १५५
- शालानिर्माणविधिः १६४
- वास्तुप्रतिष्ठा १६६
- ब्राह्मणादिवर्णव्यवस्था १७२
- गृहाश्रमे कर्त्तव्योपदेशः १७५

वानप्रस्थाश्रमसंस्कारः १८६

संन्यासाश्रमसंस्कारः १९१

अन्त्येष्टिकर्मविधिः २१६

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

संस्कारों का महत्त्व–

मानव–जीवन की उन्नति में संस्कारों का विशिष्ट महत्त्व है। मानव की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त भिन्न–भिन्न समय पर संस्कारों की व्यवस्था प्राचीन ऋषि–मुनियों ने बहुत ही सुन्दर ढंग से की है । संस्कारों से ही मानव को द्विज बनने का अधिकार मिलता है । महर्षि मनु ने इस विषय में बहुत ही सत्य लिखा है–

(क) **वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।**
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥

–मनु० २।२६

अर्थ–द्विजों के गर्भाधानादि संस्कार वैदिक पुण्य कर्मों के द्वारा सम्पन्न होने चाहिएँ । क्योंकि संस्कार इस लोक तथा परलोक में पवित्र करने वाले हैं ।

(ख) **गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।**
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

–मनु० २।२७

अर्थ–गर्भसम्बन्धी हवन (गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमान्तोन्नयन–संस्कार) जातकर्म, चूडाकर्म और उपनयन संस्कारों के द्वारा द्विजों के गर्भ एवं वीर्य–सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं ।

इस प्रकार मनु जी का संस्कारों के विषय में स्पष्ट निर्देश है कि माता–पिता के वीर्य एवं गर्भाशय के दोषों को गर्भाधानादि संस्कारों से दूर किया जाता है । अतः संस्कार शरीरादि की शुद्धि करते हैं । इससे अगले श्लोक (मनु० २।२८) में तो लिखा है कि यज्ञ, व्रतादि से मानवशरीर व आत्मा को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है ।

महर्षि दयानन्द ने संस्कारों को परमोपयोगी समझकर ही प्राचीन ऋषि–मुनियों की पद्धति का अनुसरण करके संस्कारविधि की रचना की है। उस में महर्षि ने संस्कारों का महत्त्व इस प्रकार बताया है–

(क) 'जिन करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ,

काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। इसलिए संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।'

(संस्कारविधि भूमिका)

(ख) **संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते ।**
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते ॥४॥
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः ।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्धनः ॥५॥

(संस्कारविधि, पृष्ठ १)

अर्थात् संस्कारों से संस्कृत को पवित्र तथा असंस्कृत को अपवित्र कहते हैं। अतः शिक्षा तथा ओषधियों से सुखवर्धक संस्कारों के करने में बुद्धिमानों को सदा उद्यम करना चाहिए ।

जीवात्मा अमर तथा नित्य है । जन्म-जन्मान्तरों में उस के साथ सूक्ष्मशरीर मुक्तिपर्यन्त रहता है। और यही सूक्ष्मशरीर जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों या वासनाओं का वाहक होता है । ये संस्कार शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं । जब जीवात्मा दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, उस को नई परिस्थिति के भी बहुत से शुभाशुभ प्रभाव मिलते हैं । उनमें बुरे प्रभावों को अभिभूत करने तथा शुभ प्रभावों को उन्नत कराने के लिए संस्कारों तथा स्वच्छ वातावरण की परमावश्यकता है। इसलिए महर्षि दयानन्द ने माता-पिता को सचेत करते हुए लिखा है-

''माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य मद्य, दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपानादि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, जिससे रजस् वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुण युक्त हों ।'' (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास)

अतः माता-पिता के शुद्धाहार व शुद्ध विचारों का बालक पर बहुत प्रभाव होता है । बालक के पूर्वजन्मस्थ अशुभ संस्कार पवित्र वातावरण को पाकर वैसे ही ओझल हो जाते हैं, अथवा दग्धबीजवत् प्रसवगुणरहित हो जाते हैं । जैसे पोदीना या धनिया के पौधे वर्षा की प्रतिकूल परिस्थिति को पाकर मुर्झा जाते हैं, और वर्षा के बाद अनुकूल परिस्थिति पाकर फिर से प्रस्फुटित तथा विकसित हो जाते हैं। संस्कारों में प्रथम तीन संस्कार तो बच्चे के जन्म से पूर्व ही किए जाते हैं, जिन

का पूर्ण उत्तरदायित्व माता-पिता पर ही है । यदि बच्चे के पूर्वजन्म के संस्कार भी उत्तम हों, गर्भावस्था में भी माता-पिता के उत्तम संस्कार पड़े हों और जन्म के बाद भी उत्तम वातावरण प्राप्त हो जाए तो ऐसे बच्चे महाभाग्यशाली होते हैं । महर्षि ने इन के विषय में ही लिखा है-'वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिस के माता और पिता धार्मिक और विद्वान् हों ।' (सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास)

स्वयं संस्कार शब्द भी संस्कारों की महत्ता को बताता है। संस्कार शब्द में सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है । और पाणिनि के **'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे'** सूत्र से अलंकार अर्थ में सुडागम होता है । इसके अनुसार भी संस्कार शब्द का अर्थ है-जिस से शरीरादि सुभूषित हों, उन्हें संस्कार कहते हैं । अथवा भाव में 'घञ्' प्रत्यय करके-

'संस्करणं गुणान्तराधानं संस्कारः ।' अर्थात् अन्य गुणों के आधान को संस्कार कहते हैं । संस्कारों से मानव जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति तो होती ही है, साथ ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति से मानव अपने जीवन-लक्ष्य को प्राप्त करने में भी समर्थ हो जाता है । अतः आर्यों के जीवन में संस्कारों को विशेष महत्त्व दिया गया है ।

संस्कारविधि की आवश्यकता-महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि की आवश्यकता बताते हुए लिखा है-

कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थतत्परैः ।
वेद-विज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः ॥

संस्कारविधि, पृ० १

प्रमाणैस्तान्यानादृत्य क्रियते वेदमानतः ।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः ॥

संस्कारविधि, पृ० १

अर्थात् वेदादि शास्त्रों से अनभिज्ञ, स्वार्थी तथा मुग्ध मनुष्यों ने संस्कारों के सम्बन्ध में जो मिथ्याग्रन्थों की रचना की है, उन का वेदादि के प्रमाणों से खण्डन करके लोगों को सरलता से बोध कराने के लिए यह उत्तम संस्कारविधि की रचना की है । इस से स्पष्ट है कि आर्यजाति में वेदादि शास्त्रों में विहित संस्कारों में जो दूषित मान्यताएँ प्रविष्ट हो गई थीं, अथवा जिन शुद्ध परम्पराओं को लोग भूल गये थे, उन दोषों को दूर करके आर्यजाति के पुनरुत्थान के लिए इस अलौकिक

संस्कारविधि ग्रन्थ की महर्षि ने रचना की है ।

आजकल के नवीन वेदान्ती जो यह मिथ्याप्रचार करते रहते हैं कि कर्मकाण्ड तो जगत् में फंसाता है, अतः मुमुक्षु जनों को ज्ञानकाण्ड को तो अपनाना चाहिए और कर्मकाण्ड की उपेक्षा करनी चाहिए। ऐसी मिथ्या भ्रान्तियों का खण्डन करते हुए महर्षि ने लिखा है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते । —यजुः० ४०।१४

अर्थात् अविद्या=कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या=अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है । —(सत्यार्थ० नवम०)

इस वेदप्रमाण के अनुसार ज्ञानकाण्ड की आवश्यकता बता कर महर्षि ने खण्डन किया है । इसी प्रकार ईश्वर के सच्चे स्वरूप तथा उस की सच्ची उपासना-पद्धति बताने के साथ-साथ इस संस्कारविधि में संस्कारों का सच्चा स्वरूप बताकर संस्कारों के महत्त्व को अक्षुण्ण बनाया है । और भ्रान्तिपूर्ण अविद्याग्रस्त आर्य-सन्तति को संस्कारों की सत्य-पद्धति का सप्रमाण दर्शन कराकर एक अतीव प्रशस्त कार्य किया है ।

क्या स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण के मन्त्रार्थ ईश्वर-परक ही हैं?—

संस्कारविधि के प्रारम्भ में स्वामी जी ने ईश्वरस्तुति प्रार्थना तथा उपासना के आठ मन्त्र लिखकर 'स्वस्तिवाचनम्' तथा 'शान्तिकरणम्' के मन्त्र लिखे हैं । इन दोनों प्रकरणों के मन्त्रों का अर्थ स्वामी जी ने संस्कारविधि में नहीं लिखा है । इनके ग्रन्थों के विषय में स्वामी जी ने स्पष्ट निर्देश किया है ।

"मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेद-भाष्य में लिखे ही हैं। जो देखना चाहें, वहां से देख लेवें ।" (स०वि० भूमिका)

इन दोनों प्रकरणों के अर्थों के विषय में प्रायः यह भ्रान्ति बनी हुई है कि इन मन्त्रों में भी ईश्वर-स्तुति तथा उपासना का ही वर्णन किया है । इसके मन्त्रों के त्रिविध अर्थ मानकर विद्वान् या पुरोहित अर्थ करने की चेष्टा भी करते हैं । किन्तु उन की यह धारणा सत्य नहीं । यदि ये समस्त मन्त्र ईश्वर-स्तुत्यादि के ही होते तो तीन प्रकरण बनाने की क्या आवश्यकता थी ? और स्वामी जी के वेदभाष्य में इन के जो अर्थ उपलब्ध होते हैं, उन में स्वामी जी ने भी सब की ईश्वरपरक व्याख्या नहीं की है । 'स्वस्तिवाचन' तथा 'शान्तिकरण' जो इन मन्त्रों का नामकरण किया है, उस से भी यही स्पष्ट होता है कि **सु+अस्ति**=

स्वस्ति अर्थात् शुभ कर्म क्या है और अशुभ क्या है ? इसका वर्णन स्वस्तिवाचन में किया है । और शान्ति तीन प्रकार की मानी जाती है– १. आध्यात्मिक, २. आधिदैविक, ३. आधिभौतिक । अतः शान्तिकरण में तीनों प्रकार के मन्त्रों का संग्रह किया गया है। और दोनों प्रकरणों के रखने का एक क्रम है । जब मनुष्य शुभ कर्म करता है तभी उसे सुख व शान्ति प्राप्त होती है ।

यथार्थ में त्रिविध–प्रक्रिया से मनुष्यों को बड़ी भ्रान्ति हुई है कि प्रत्येक मन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं, यह एक अवैदिक धारणा है । प्रत्येक मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय देवता के रूप में ऋषियों ने निश्चित किया हुआ है । उसके अनुसार ही मन्त्रार्थ की सङ्गति उचित है । और प्रत्येक पदार्थ में सामान्य व विशेष धर्म होते हैं । विशेष–धर्मों से अर्थनिर्णय परक मन्त्रों का अर्थ ईश्वरपरक और ईश्वरपरक मन्त्रों का अर्थ प्रकृतिपरक कर दिया जाए । अतः जहां मन्त्र के अनेक अर्थ सम्भव हों, वहीं करने चाहिएँ, सर्वत्र नहीं । जिन विद्वानों ने त्रिविध प्रक्रिया को मानकर वेदार्थ करने का सङ्कल्प किया, वे सब अपनी मान्यता का पूर्णतया पालन करने में सर्वथा असफल रहे हैं । आचार्य श्री वैद्यनाथ जी शास्त्री का 'सामवेद–भाष्य' इस विषय का प्रबल प्रमाण है । वे अपनी इस प्रतिज्ञा का सर्वत्र निर्वाह नहीं कर सके कि सामवेद के मन्त्रों में उपासना प्रकरण ही है । श्री आचार्य जी को तो अपनी त्रिविध प्रक्रिया से ईश्वर–परक अर्थ करने ही चाहिएँ थे, परन्तु वैदिक नियमों तथा मन्त्रों की सङ्गति के आगे उन्हें नतमस्तक होना पड़ा और ईश्वर से भिन्न पदार्थों के वर्णन में ईश्वरपरक अर्थ वे नहीं कर सके।

स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण के मन्त्रों का महर्षिकृत अर्थ इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कर देता है कि ये सब मन्त्र ईश्वर–स्तुत्यादि के ही नहीं हैं । महर्षिकृत कुछ मन्त्रों के विषय देखिये–

(१) **ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां० ॥** –ऋ० ७।३५।१५

इस मन्त्र के विषय में महर्षि लिखते हैं–मनुष्यों को किन से विद्याध्ययन और उपदेश सुनना चाहिए । इस मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है ।

(२) **स्वस्तये वायुमुपब्रवामहै सोमम्०** –ऋ० ५।५१।१२

इस मन्त्र का विषय है–मनुष्य कैसे विद्यावृद्धि करें ?

(३) **विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये०** –ऋ० ५।५१।१३

इस मन्त्र का विषय है–विद्वान् क्या करें ?

(४) **स्वस्ति पन्थामनुचरेम०** —ऋ० ५।५१।१५

इस मन्त्र का विषय—मनुष्य विद्वानों के संग से धर्ममार्ग में चलें।

(५) **देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां०** —यजुः० २५।१५

विषय—मनुष्यों को किन की इच्छा करनी चाहिए ? विद्वांसो देवताः ।।

(६) **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा०** —यजुः० ३६।१०

विषय—मनुष्यों को क्या करना चाहिए ?

(७) **शन्नो वातः पवतां०** —यजुः० ३६।१०

विषय—मनुष्य क्या करें ? वातादयो देवताः ।।

शान्तिकरण के कुछ मन्त्रों के विषय महर्षि–भाष्य में देखिये—

(१) **शन्नो इन्द्राग्नी भवतामवोभिः०** —ऋ० ७।३५।१

विषय—मनुष्य सृष्टिपदार्थों से क्या–क्या ग्रहण करें ।

(२) **शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु०** —ऋ० ७।३५।२

विषय—मनुष्य वैसे कर्त्तव्य करें, जिन से ऐश्वर्य सुख करनेवाले हों।

(३) **शं नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु०** —ऋ० ७।३५।३

विषय—मनुष्यों को सृष्टि से कैसा उपकार लेना चाहिए ?

(४) **शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु०** —ऋ० ७।३५।३

विषय—मनुष्यों को क्या कर्त्तव्य है?

इस प्रकार शान्तिकरण के १–१३ मन्त्रों में से एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है, जिस का अर्थ महर्षि ने ईश्वरपरक किया हो ।

महर्षि द्वारा परिमार्जित—

सन्ध्या और अग्निहोत्र का विधान—

संस्कारविधि का **प्रामाणिक द्वितीय संस्करण सं० १९४१** विक्रमी में प्रकाशित हुआ । जिस के विषय में महर्षि लिखते हैं—

"विक्रमादित्य के संवत् १९३२, कार्तिक कृष्ण पक्ष ३०, शनिवार के दिन संस्कारविधि का प्रथमारम्भ किया था, उस में संस्कृत–पाठ सब एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था । इस कारण संस्कार करने वाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर–दूर होने से कठिनता पड़ती थी । ......इसलिए...... सं० १९४०, आषाढ बदि १३, रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिए विचार किया ।......अब की वार **जो जो अत्यन्त उपयोगी विषय है, वह–वह अधिक भी लिखा है ।**" (सं० वि० भूमिका)

इस से महर्षि के भावों का बहुत ही स्पष्टीकरण हो जाता है कि **महर्षि का यह संस्कारविधि सब से बाद का ग्रन्थ है । और यह निर्विवाद बात है कि लेखक की अन्तिम पुस्तक अधिक प्रामाणिक होती है । और महर्षि ने यह भी स्पष्ट लिखा है कि जो अधिक उपयोगी विषय है, वह इस में बढ़ाया गया है ।**

महर्षि के ग्रन्थों में सन्ध्या व हवन की विधियों में एकरूपता न देखकर प्रायः सन्देह ही बना रहता है कि किस विधि को प्रामाणिक माना जाए । हमारा विचार है कि संस्कारविधि की सन्ध्या तथा हवन की विधियाँ ही सर्वाधिक प्रामाणिक तथा पूर्ण हैं । हमारे इस पक्ष की पुष्टि निम्न तथ्यों से होती है—

(१) महर्षि की सन्ध्या–हवन कृतियों में यह संस्कारविधि अन्तिम कृति है । अन्तिम कृति में लेखक जो भी परिवर्धन करना चाहता है, कर सकता है और वह प्रामाणिक होता है ।

(२) संस्कारविधि से भिन्न सन्ध्या तथा हवन की पुस्तकों की विधियों में ऐसी पूर्णता नहीं है, जैसी इस में है । जैसे दैनिक अग्निहोत्र की १६ आहुतियाँ संस्कारविधि के आश्रय के विना पूर्ण नहीं होतीं।

(३) महर्षि ने भी अपने जीवन के अन्तिम समय में इसी की विधियों को मानने का आदेश दिया है—“**सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें ।** इन नित्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें ।” (सं० वि० गृहाश्रम०)

(४) ऋषि ने जिन विधियों में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा, उन को संस्कारविधि में न लिखकर दूसरे ग्रन्थों में ही देखने को लिख दिया है । जैसे पितृयज्ञ व अतिथियज्ञ का विशेष उल्लेख संस्कारविधि में नहीं किया गया । इससे भी ऋषि का मन्तव्य स्पष्ट है कि सन्ध्या व हवन में उन्होंने संशोधन आवश्यक समझकर ही किया है ।

(५) जो विद्वान् यह मानते हैं कि पञ्चमहायज्ञों के लिए पञ्चमहायज्ञविधि ही प्रामाणिक पुस्तक है । उन से हमारा विनम्र निवेदन है कि वे हमारी उपर्युक्त बातों पर पुनर्विचार करें । और **सन्ध्या तो पञ्चमहायज्ञविधि के अनुसार कर लेते हैं किन्तु हवन करने में संस्कारविधि का आश्रय क्यों लेते हैं ? क्या हवन की विधि पञ्चमहायज्ञविधि में पूर्ण है ?** अतः उन का पक्ष सत्य तथा महर्षि

के मन्तव्य से विपरीत ही है ।

(६) जो विद्वान् यह मानते हैं कि संस्कारविधि की सन्ध्या गृहस्थियों के लिए ही है तो उनसे हमारे दो प्रश्न हैं–(१) सन्ध्या की भाँति हवन भी तो संस्कारविधि में गृहस्थियों के लिए होगा ? आप हवन में संस्कारविधि का आश्रय क्यों करते हैं ? (२) सं० वि० के गृहाश्रम प्रकरण में प्रातःकालीन मन्त्र भी लिखे हैं । उन मन्त्रों को भी गृहस्थियों के लिए ही मानकर सन्ध्या-हवन की पुस्तकों में प्रकाशित क्यों करते हो ? क्या एक बात को मान लेना और दूसरी को छोड़ देना अर्धजरतीन्याय के तुल्य नहीं है ?

(७) संस्कारविधि व पञ्चमहायज्ञविधि की सन्ध्या-हवन की विधियों में परस्पर कहीं भी विरोध नहीं है । अपितु संस्कारविधि में कुछ विशेष विधियों का उल्लेख है । जो महर्षि ने परिवर्धन करके ही लिखी हैं । ऋषियों की यह शैली होती है कि जहां परस्पर विरोध न हो वहां विशेष वाला पाठ ही मान्य होता है ।

(८) संस्कारविधि से भिन्न पुस्तकों में ईश्वर-स्तुति, प्रार्थनोपासना, 'अयन्त इध्म०' मन्त्र से पांच आहुतियां, 'विश्वानि देव०' तथा 'अग्ने नय०' मन्त्रों से दैनिक अग्निहोत्र में आहुति देना नहीं लिखा । जो विद्वान् संस्कारविधि की सन्ध्या को प्रामाणिक नहीं मानते, वे संस्कारविधि की सन्ध्या की तरह हवन की विधि का परित्याग भी क्यों नहीं करते ?

(९) संस्कारविधि के वेदारम्भसंस्कार में महर्षि ने लिखा है कि **आचार्य बालक से वह सन्ध्यापद्धति करवाये जो गृहाश्रमप्रकरण में लिखी है ।** इस से भी यह सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों की सन्ध्यापद्धति एक ही है ।

अतः हमारा यह स्पष्ट तथा निश्चित अभिमत है कि संस्कारविधि की सन्ध्या व हवन की विधियाँ ही पूर्ण तथा प्रामाणिक हैं । हमारे दैनिक क्रियाकलापों में एकरूपता लाने के लिए इन विधियों को ही, अपनाना उचित है । हमें आश्चर्य तो तब होता है कि आर्यसमाज के पुरोहित विद्वान् अपनी तरफ से बढ़ाकर तो कुछ विधियाँ कराते हैं, किन्तु महर्षि की विधियों को अपनाने में पता नहीं क्यों संकोच करते हैं ? आर्यविद्वानों तथा सभा के अधिकारियों को इस विषय में निष्पक्ष विचार करना चाहिए ।

संस्कारविधि के प्रमाणभाग में पाठभेद क्यों ?

संस्कारविधि के प्रमाण भागों पर भी कुछ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं । महर्षि ने प्रमाण भागों पर पते नहीं दिए हैं, केवल वेद–मन्त्रों के ही पते दिए हैं । आक्षेपकर्त्ता संस्कारविधि के प्रमाणभागों को वर्त्तमान में उपलब्ध पुस्तकों से मिलान करके आक्षेप किया करते हैं कि स्वामी जी ने ये पाठ कल्पित लिखे हैं । किन्तु उन्हें महर्षि–कालीन पुस्तकों में इन प्रमाणभागों की खोज करनी चाहिए अथवा महर्षि की शैली को समझकर निर्णय करना चाहिये । अन्यथा भ्रान्तियों का निराकरण सम्भव नहीं है । जैसे–

(१) संस्कारविधि के विवाह–प्रकरण में 'ओम् अघोरचक्षु–पतिघ्न्येधि०' (ऋ० १०।८५।४४) मन्त्र में महर्षि ने 'देवृकामा' पद लिखा है किन्तु सायण तथा मैक्समूलरादि ने 'देवकामा' पाठ लिखा है, इस से सन्देह अवश्य होता है । किन्तु महर्षि लिखित पाठ ही ठीक प्रतीत होता है । विवाह–प्रकरण में देवृकामा=देवर की कामना करनेवाली पाठ युक्तियुक्त तथा सुसंगत भी है । और अथर्ववेद (१४।२।१७) में कुछ पाठभेद से यही मन्त्र पठित है, उस में भी 'देवृकामा' ही पाठ है । विदेशी विद्वान् 'ह्विटने' ने भी निजानुवाद में यही पाठ माना है। अजमेर वैदिक यन्त्रालय में छपे ऋग्वेद में भी यही पाठ छपा है । 'ह्विटने' ने यह भी अपनी टिप्पणी में लिखा है कि 'पिप्पलाद–शाखा' में 'देवृकामा' पद का ही पाठ है ।

(२) संस्कारविधि के गर्भाधान–प्रकरण में महर्षि ने गर्भाधान–विधायक पारस्करगृह्यसूत्र का निम्न सूत्र दिया है–

'अथ गर्भाधानं स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वꣳस्नात्वा विरुजा–यास्तस्मिन्नेव दिवा आदित्यं गर्भमिति ।' महर्षि ने इस सूत्र को पारस्कर गृह्यसूत्र का लिखा है । परन्तु आजकल उपलब्ध गृह्यसूत्रों में यह पाठ नहीं मिलता । शास्त्रार्थादि के समय पौराणिक विद्वान् इस पर बहुधा आक्षेप किया करते हैं । किन्तु महर्षि झूठा क्यों लिखते ? इस पाठ का अभाव कैसे हुआ ? यह एक अन्वेषणीय तथ्य है, किन्तु यही पाठ पारस्करगृह्यसूत्र में विद्यमान है । वैदिक कानकौरडैंस (Vedic-concordance) वैदिक बृहत्कोष में इसी **'आदित्यं गर्भम्'** (यजुः० १३।४१) वाले मन्त्र का उद्धरण देकर पं० ब्लूमफील्ड ने पारस्करगृह्यसूत्र (अध्याय १ कण्डिका १३) का पता दिया है । गर्भाधान का प्रकरण

भी इसी कण्डिका में है । इस से स्पष्ट है कि ब्लूमफील्ड के पास पारस्करगृह्यसूत्र की जो पुस्तक या हस्तलेख था उस में यह पाठ अवश्य होगा । वैभव प्रेस मुम्बई से वि० १९७४ संवत् में ईडर प्रदेशान्तर्गत मुडेटि ग्राम निवासी पण्डित दुर्गाशङ्कर ने जो पारस्करगृह्यसूत्र छपवाया था, उसमें यही मन्त्र गर्भाधान-प्रकरण में कात्यायन परिशिष्ट मानकर छपा है । और ज्येष्ठराम मुकुन्द जी बम्बई वाले ने भी जो पारस्करगृह्यसूत्र छपवाया था, उस में भी यही पाठ गर्भाधान-प्रकरण में कात्यायन परिशिष्ट मानकर दिया है । स्वामी दयानन्द ने भी संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में कात्यायन पारस्करगृह्यसूत्र का वचन लिखा था और द्वितीय संस्करण में केवल पारस्कर का वचन लिखा है । आजकल उपलब्ध समस्त पारस्करगृह्यसूत्रों में कात्यायन परिशिष्ट भाग छोड़ दिया गया है । यह बहुत ही दुःखद बात है । इस रहस्य का उद्घाटन श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री ने 'संस्कारविधिमण्डनम्' में किया है । विद्वान् अनुसन्धान-कर्त्ताओं को इसकी खोज करनी चाहिए ।

(३) संस्कारविधि के सामान्यप्रकरण में पृष्ठ १५ पर स्थालीपाक बनाने के लिए महर्षि ने निम्नलिखित प्रमाण दिया है-

''ओं देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।''

इस समग्र पाठ को किसी एक मन्त्र में न देखकर प्रायः आक्षेप किया जाता है कि स्वामी जी का यह प्रमाण किसी वेद में नहीं है। आक्षेपकों को यह भ्रम स्वामी जी की शैली को न जानने तथा विरामचिह्न के अभाव में हुआ है । स्वामी जी की शैली यह भी रही कि अनेक मन्त्रों के अंशों को लेकर प्रमाणार्थ एकत्र लिख देते हैं। यथार्थ में **'देवस्त्वा सविता पुनातु'** यह पूर्व का अर्धभाग यजुः० १।३ का और उत्तर का आधा भाग 'अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः' यजुः० १।३१ का है । संस्कारचन्द्रिका में केवल पूर्व अर्धभाग ही मूलपाठ में रखकर उत्तरभाग को हटा दिया है । किन्तु यह टीकाकारों ने अनधिकार चेष्टा की है । उन्हें मूलपाठ में घटत-बढ़त करने का कोई अधिकार नहीं है । सन्देहास्पद स्थलों की सङ्गति की अवश्य खोज करनी चाहिए । यह बात श्री रामगोपाल जी शास्त्री ने ही स्पष्ट की है ।

(४) श्री रामगोपाल शास्त्री जी ने महर्षि के कुछ पाठों की सङ्गति लगाकर प्रशंसनीय कार्य किया है । किन्तु संस्कारविधि के कर्णवेध संस्कार के निम्न पाठ को अशुद्ध बताया है-

'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा ।'

इस पाठ के विषय में शास्त्री जी ने लिखा है कि संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में उपर्युक्त प्रमाण के आरम्भ में 'अथ' शब्द छपा है, अतः 'अथ' शब्द होना चाहिए । और स्वामी जी ने इस प्रमाण को आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन लिखा है । शास्त्री जी ने इसे कात्यायन पारस्करगृह्यसूत्र का पाठ लिखा है । और यह भी लिखा है कि इस संस्कार में कर्ण के साथ नासिका का वेध भी छपा है, यह पाठ भी भूल से छपा है । इन तीनों बातों के विषय में भी विद्वानों को खोज करनी चाहिए । सम्भव है इस का भी उचित समाधान मिल जायेगा। नासिकावेध की बात भी सम्भव है, कन्याओं की दृष्टि से स्वामी जी ने लिखी हो । क्योंकि संस्कारों का अधिकार दोनों को ही है । विद्वानों को इस पर भी विचार करना चाहिए ।

श्री मीमांसक जी के प्रामाणिक–संस्करण पर विचार–

श्री पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित संस्कारविधि के प्रामाणिक संस्करण में सीमन्तोन्नयन संस्कार में स्वामी जी ने जो–

''ओं राकामहं सुहवाम्०'' इत्यादि मन्त्र दिये हैं, उन के विषय में श्री मीमांसक जी ने लिखा है कि–'ये मन्त्र मन्त्रब्राह्मण से उद्धृत हैं । प्रतीत होता है कि हस्तलेख में लिखते समय पाठ आगे पीछे हो गया है । अतः संस्करण २।१७ तक पाठ निम्न प्रकार से अस्तव्यस्त छपा मिलता है ।''

इस स्थल पर श्री मीमांसक जी को तथा अन्य विद्वानों को पुनर्विचार करना चाहिए । किसी विषय की खोज किए विना सहसैव निर्णय देना उचित नहीं । हमारे विचार में महर्षि के दिए मन्त्र शुद्ध ही हैं । हस्तलेख में ऐसी त्रुटि सम्भव नहीं थी, क्योंकि महर्षि हस्तलेखों को अच्छी प्रकार देखा करते थे । स्वामी जी के समय के किसी गृह्यसूत्र में ही ऐसा पाठ हो सकता है, अथवा स्वामी जी ने इस पाठ को ऊहित करके लिखा हो, यह भी सम्भव है । कर्मकाण्ड में ऊहित–प्रक्रिया को तो सभी विद्वान् मानते हैं ।

श्री मीमांसक जी ने संस्कारविधि के इस संस्करण में वेद–पाठों में परिवर्तन, स्वरचिह्नों में परिवर्तन, ऊहित पाठों में परिवर्तन, ऋषि की भाषा में परिवर्तन, मनुस्मृति के पाठों में परिवर्तन तथा सैकड़ों टिप्पणियाँ दी हैं । जिन का खण्डन ट्रस्ट द्वारा सम्पादित संस्कारविधि के प्रथम

संस्करण में श्री पं० सुदर्शनदेव जी ने बहुत अच्छी तरह से किया है । जिन का मीमांसक जी ने आज तक कोई उत्तर नहीं दिया है । प्रतीत यही होता है कि उन्होंने शीघ्रता से यह कार्य किया है । यथार्थ में किसी मूल लेखक के ग्रन्थ में परिवर्तन करने का किसी को भी अधिकार नहीं । महर्षि के ग्रन्थों को अक्षुण्ण ही बनाए रखना चाहिए। क्योंकि अल्पज्ञ मनुष्य ऋषि की गम्भीरता को कैसे समझ सकते हैं? जहां कहीं ऋषिग्रन्थों में त्रुटि प्रतीत होवे, उस को पृथक् से दिखाना चाहिए । प्रायः यह देखा गया है कि जिसे हम आज अशुद्ध समझ रहे हैं, वह ही कालान्तर में किसी प्रकार से हमारी समझ में आ जाता है । प्रकाशकों का यह भी कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे अपनी टिप्पणियों तथा मूल लेखक की टिप्पणियों में किसी प्रकार भेद अवश्य दिखाएं। जिस से पाठकों को यह स्पष्ट पता लग जाए कि यह टिप्पणी किस की है ? और अनावश्यक या भ्रान्तिजनक टिप्पणियाँ नहीं देनी चाहिएं।

श्री मीमांसक जी की कतिपय अनावश्यक टिप्पणियाँ—

(१) ऋषि के पाठ का सर्वथा खण्डन करते हुए पण्डित जी लिखते हैं—

'यहां आघाराहुति और आज्यभागाहुति के मन्त्र विपरीत छपे हैं।'

—(पृ० ३८ टि० ४)

यह बात मीमांसक जी ने विना प्रमाण के ही लिख दी है । स्वामी जी ने उत्तर व दक्षिण में जिन मन्त्रों से आहुति लिखी हैं, मीमांसक जी ने उन से विपरीत **'प्रजापतये स्वाहा ।' 'इन्द्राय स्वाहा ।'** मन्त्रों से आहुति लिखी हैं । क्या यह महर्षि से विरोध नहीं है ।

(२) श्री मीमांसक जी ने 'ओ३म्' 'स्वाहा' 'इदन्न मम' इन पदों को मन्त्र से बहिर्भूत दिखाने के लिए अनेक स्थानों पर टिप्पणियाँ दी हैं । शास्त्रों में मन्त्रारम्भ में 'ओ३म् का विधान' तथा 'स्वाहा' का आहुति के लिए विधान किया है । 'इदन्न मम' स्वत्व निवारण के लिए प्राचीन ऋषियों ने विधान किया है । ये पद मन्त्रांश न होते हुए भी अग्निहोत्र में आवश्यक हैं । अतः इन को बहिर्भूत बनाने के लिए टिप्पणियाँ अनावश्यक ही हैं ।

(३) संस्कारविधि में दिए हुए पात्रों का संस्कारविधि में प्रयोग नहीं होता अतः ये व्यर्थ हैं । और व्यर्थता से ज्ञापक निकाला है कि ऋषि अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौतयज्ञों का विधान बनाना

चाहते थे । (पृष्ठ २४-२५ टिप्पणी) यह पण्डित जी की कल्पना मात्र ही है । यदि महर्षि का ऐसा भाव होता, तो कहीं पर (भूमिकादि में) अवश्य निर्देश करते ।

(४) संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण में वामदेव्यगान के तीनों मन्त्रों के आरम्भ में 'भूर्भुवः स्वः' पर ऋषि ने ऋग्वेदानुसारी स्वरचिह्न दिए हैं ।

पण्डित जी ने पृष्ठ ४३ पर टिप्पणी दी है—हम ने उन के स्थान पर सामवेदानुसारी स्वरचिह्न दे दिए हैं । जब सामवेद में 'भूर्भुवः स्वः' व्याहृति का पाठ है ही नहीं, तो पण्डित जी ने स्वरचिह्न कहां से दिए? क्या इसे कोई बुद्धिमत्ता कह सकता है ?

(५) पण्डित जी ने ऋषि-लिखित वेद-पाठ में भी परिवर्तन करने का अनावश्यक प्रयास किया है । जैसे—**'यस्य च्छाया'** के स्थान पर **'यस्य छाया'** **'योऽन्तरिक्षे'** के स्थान पर **'यो अन्तरिक्षे'**, **'स्वः स्तभितं०'** के स्थान पर **'स्व स्तभितम्'**, **'जुहुमस्तन्नोऽस्तु'** के स्थान पर **'जुहुमस्तन्नो अस्तु'** पाठ कर दिए हैं । सम्भव है पण्डित जी को कहीं ऐसे पाठ-भेद भी मिले हों, किन्तु ऋषि के पाठों को परिवर्तित करना अनधिकार चेष्टा ही कहा जायेगा । जबकि व्याकरणादि नियमों से भी ऋषि-लिखित पाठों में कोई दोष नहीं आता अथवा विकल्प से दोनों ही रूप ठीक हैं, तब परिवर्तन की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि टिप्पणियों या परिवर्तनों के होते हुए यह कहना कि हमारा संस्करण प्रामाणिक है, यह केवल मिथ्या गर्वोक्ति मात्र ही है ।

श्री मीमांसक जी द्वारा सम्पादित संस्कारविधि के सम्पादकीय में लिखा है—'इन उपर्युक्त संशोधनों एवं परिवर्तनों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋषि की उत्तराधिकारिणी सभा अपने उत्तरदायित्व का कहां तक पालन कर रही है । यह सब ऋषि-ग्रन्थों के प्रकाशन के एकाधिकार का खुल्लमखुल्ला दुरुपयोग है । ऋषि के साथ विश्वासघात नहीं है ? क्या यह ऋषि-ग्रन्थों में परिवर्तन की प्रवृत्ति अनधिकारचेष्टा नहीं है ?

श्री मीमांसक जी ने पर्याप्त संख्या में संस्कारविधि में मनुस्मृति के पाठ-भेदों को भी दिखाया है । उन में महर्षि-लिखित पाठ ही सुसंगत तथा शुद्ध हैं । मनुस्मृति के भिन्न-भिन्न प्रकाशनों में पाठ-भेद मिलते हैं । परन्तु महर्षि के समय जो प्रकाशन उन्हें उपलब्ध हुआ, महर्षि

के मनुस्मृति के पाठ उसी के अनुकूल ही सम्भव हैं । विभिन्न पाठ–भेदों में प्रकरण तथा श्लोकार्थ की संगति को भी देखना आवश्यक होता है । पण्डित जी ने महर्षि के शुद्ध पाठों को कहीं भी प्रामाणिक नहीं लिखा । यह उन की भ्रान्ति ही है । अन्यथा जहां–जहां पाठ–भेद उन्हें मिले हैं, उन की प्रामाणिकता का भी निर्णय करना चाहिए था। संस्कारविधि के दूसरे संस्करण को पण्डित जी ने प्रामाणिक स्वीकार किया है । किन्तु अपनी टीका–टिप्पणियों से पूर्ण पाठान्तरों से संशोधित संस्करण को भी प्रामाणिक लिखा है । ये दोनों बातें सत्य नहीं हो सकतीं। यदि आप द्वितीय संस्करण को प्रामाणिक मानते हैं तो आप का संस्करण कैसे प्रामाणिक हो सकता है ? महर्षि के अनुयायियों को यह शोभा नहीं देता कि अपनी विद्वत्ता के बल से महर्षि के शुद्ध पाठों को भी सुसंगत एवं शुद्ध न कह सकें और असंगत पाठ–भेदों को दिखाकर पाठकों के मन में भ्रान्तियाँ उत्पन्न करें ।

ट्रस्ट ने पण्डित जी का ध्यान इन आवश्यक पाठ–भेदों की ओर दिलाया और पण्डित जी को वैदिक–यन्त्रालय में महर्षि–कालीन कुछ मनुस्मृति के कागज प्राप्त हुए । उन में महर्षि के पाठों की पुष्टि देखकर पण्डित जी को आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपने टिप्पणी युक्त कुछ पाठों में संशोधन भी कर दिया है । गुण–गृह्यों को ऐसा करना उचित भी है। किन्तु हमारा निवेदन है कि पण्डित जी जैसे विद्वानों को विवादास्पद या संशयास्पद स्थलों पर बहुत सोचकर लेखनी उठानी चाहिए।

पौराणिकों के मिथ्या आक्षेप—महर्षि दयानन्द के समस्त ग्रन्थों पर ही पौराणिक–बन्धु आक्षेप करते रहे हैं, तब 'संस्कारविधि' कैसे पृथक् बच सकती थी ? पौराणिकों की छिद्रान्वेषण प्रवृत्ति कहें, या मत्सर–वृत्ति कहें, इस विवाद में न फंसकर हम संस्कारविधि से सम्बद्ध उन के लगाए मिथ्या आक्षेपों का उत्तर इसलिए देना उचित समझ रहे हैं कि जिस से आर्य–जन उन की वञ्चनावृत्ति के दूषित प्रभाव से बच सकें और उन के आक्षेपों की निस्सारता को समझा करें।

(१) क्योंकि आर्यसमाजी वेदों को ही स्वतः प्रमाण मानते हैं, अतः उन्हें स्वामी जी की प्रत्येक बात वेद–मन्त्रों से ही दिखानी चाहिए। अन्यथा महर्षि के ग्रन्थ वैदिक नहीं कहला सकते । किन्तु ऐसे व्यक्ति शास्त्रीय चर्चा से जहां अनभिज्ञ हैं, वहां आर्यसमाज और उस के संस्थापक महर्षि दयानन्द के पक्ष को नहीं समझ सके हैं । महर्षि ने

अपनी मान्यता को बहुत ही स्पष्ट करके लिखा है–

(क) **वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।**
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥

–(संस्कारविधि, पृष्ठ ३)

अर्थात् वेदादिशास्त्रों का परमादर से चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए (यद् यन्मेध्यमत्र तदुच्यते) जो-जो पवित्र बातें हैं उन्हें यहां कहा जाता है । इस से स्पष्ट है कि महर्षि ने संस्कारविधि में उन पवित्र बातों को कहा है, जो वेदादि शास्त्रों के अनुसार आर्यों में प्रचलित थीं ।

(ख) **वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ।**
अत्रोच्यते । सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः ॥

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ७१)

अर्थात् वेदों में सब विद्याएँ हैं, अथवा नहीं ? इस के उत्तर में महर्षि लिखते हैं–वेदों में सब विद्याएँ तो हैं–मूलोद्देश्य से । उद्देश्य शब्द शास्त्रीय है । जिस का अर्थ है–नामपूर्वक कथन । अर्थात् वेदों में सब विद्याओं का मूल-नामपूर्वक कहा गया है, उन का लक्षण व परीक्षादि विस्तार नहीं है । उस बीजरूप वेदविद्या का ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदाङ्ग, उपाङ्ग तथा गृह्यसूत्रादि में ऋषि-महर्षियों ने विस्तार से व्याख्यान किया है ।

(ग) 'कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां-जहां जो-जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्त पर्यन्त करने चाहिएँ, उन का वर्णन यहां नहीं किया जायेगा । क्योंकि उन के अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है ।......इसलिए जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्ति प्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं ।'

–ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषयः

उपर्युक्त महर्षि-ग्रन्थों के उद्धरणों से महर्षि की मान्यता का स्पष्ट वर्णन है कि महर्षि वेद तथा वेदानुकूल उन सभी बातों को मानते हैं, जो युक्ति-प्रमाण-सिद्ध हैं । और वेदानुकूल बातें आर्यों में प्रचलित हैं । संस्कारविधि में भी महर्षि की यही मान्यता है । अतः प्रतिपक्षी पौराणिकों का यह आक्षेप भ्रान्तिपूर्ण तथा महर्षि की मान्यता के सर्वथा विरुद्ध है ।

(२) महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि के प्रारम्भ में लिखा है–

'गर्भाद्या मृत्युपर्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि ।'

–(संस्कारविधि, पृष्ठ ३)

'अर्थात् गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त सोलह संस्कार ही होते हैं । इस पर पौराणिक बन्धुओं का यह आक्षेप है कि महर्षि ने इस अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह अपने ग्रन्थ में नहीं किया है । क्योंकि संस्कारविधि में सोलह संस्कारों के अतिरिक्त 'गृहाश्रमसंस्कार' तथा 'शालादिसंस्कार' भी माने हैं, जिन्हें मिलाने से संस्कारों की संख्या अधिक हो जाती है । इस के उत्तर में हमारा निवेदन है कि महर्षि दयानन्द ने निम्नलिखित १६ संस्कार ही माने हैं–

१. गर्भाधानम् ।	९. कर्णवेधसंस्कारः ।
२. पुंसवनम् ।	१०. उपनयनसंस्कारः ।
३. सीमन्तोन्नयनम् ।	११. वेदारम्भसंस्कारः ।
४. जातकर्मसंस्कारः ।	१२. समावर्त्तनसंस्कारः ।
५. नामकरणम् ।	१३. विवाहसंस्कारः ।
६. निष्क्रमणसंस्कारः ।	१४. वानप्रस्थाश्रमसंस्कारः ।
७. चूडाकर्मसंस्कारः ।	१५. संन्यासाश्रमसंस्कारः ।
८. अन्नप्राशनसंस्कारः ।	१६. अन्त्येष्टिकर्मविधिः ।

इन संस्कारों से भिन्न 'गृहाश्रमसंस्कार' या 'शालासंस्कार' ये विवाहसंस्कार के अन्तर्गत ही हैं, उस से भिन्न नहीं । क्योंकि इन में गार्हस्थ्य जीवन के कर्त्तव्यों का ही उपदेश किया गया है । कई सज्जनों का यह कथन भी ठीक नहीं कि 'अन्त्येष्टि' को महर्षि ने संस्कार नहीं माना है । क्योंकि–महर्षि ने इसे 'अन्त्येष्टि–कर्म' लिखा है, संस्कार नहीं । उन्हें महर्षि के निम्न वचनों पर ध्यान देना चाहिए–

(क) 'अन्त्येष्टि–कर्म उस को कहते हैं कि शरीर के अन्त का संस्कार है, जिस के आगे उस शरीर के लिए कोई भी अन्य संस्कार नहीं है ।' –(संस्कारविधि, पृष्ठ २१८)

(ख) **इति मृतकसंस्कारविधिः समाप्तः ।**

–(संस्कारविधि, पृष्ठ २२६)

यहां महर्षि ने 'अन्त्येष्टि' को स्पष्ट ही संस्कार माना है । यथार्थ में महर्षि को 'कर्म' शब्द भी संस्कार अर्थ में अभिप्रेत है ।

(३) संस्कारविधि में सीमन्तोन्नयनप्रकरण में महर्षि लिखते हैं–

'खिचड़ी में पुष्कल घृत डालकर गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिबिम्ब उस घी में देखे । इस समय पति पूछे–**'किं पश्यसि'** । स्त्री उत्तर देवे–**'प्रजां पश्यामि'** । इस पर कुछ सज्जन आक्षेप करते हैं कि यह स्वामी जी ने कल्पना करके ही विना प्रमाण के लिख दिया है । उन के संशय निवारणार्थ श्री पण्डित रामगोपाल जी शास्त्री ने 'संस्कारविधि-मण्डनम्' में निम्नलिखित प्रमाण दिखाया है, जो कि प्रशंसनीय तथा खोजपूर्ण है–

'कृसरः स्थालीपाक उत्तरघृतस्तमेवेक्षयेत्–किं पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत्, तं सा स्वयं भुञ्जीत ।''

–(गोभिल गृह्यसूत्र अ० २। खं० ७। सू० ९-११)

अर्थ–खिचड़ी पका उस में घृत डाल उसे देखे । (पति पत्नी से पूछे–'किं पश्यसि ?'=क्या देखती है ? पत्नी उत्तर दे कि 'प्रजाम्'= प्रजा को देखती हूं । यह कह कर–स्त्री उस घृत-मिश्रित खिचड़ी को स्वयं खाए । इस से स्पष्ट है कि महर्षि ने कहीं-कहीं विना प्रमाण के भी जो बातें लिखी हैं, वे भी कल्पित नहीं हैं । उन के प्रमाण भी शास्त्रों में खोजने से अवश्य मिल सकते हैं ।

(४) जातकर्मसंस्कार में पृष्ठ ५१ पर महर्षि लिखते हैं–''नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से ('शण्डामर्काभ्यामुपवीरः' इत्यादि मन्त्रों से) भात और सरसों मिलाके दश दिन तक बराबर आहुतियां देवें ।'' इस पर भी कुछ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं कि भूत-प्रेत-पिशाच आदियों को न मानने वाले महर्षि ने यहां पर प्रसूता स्त्री की भूत-प्रेतादिकों से रक्षा करने के लिए गौर-सर्षप धुंआने का विधान क्यों किया ? इन मन्त्रों से भी यह संशय होता है कि शण्डा, मर्क, उपवीरादि असुरों को दूर करने के लिए ही इन में प्रार्थना की गई है । पौराणिकों की यही मान्यता है कि प्रसवागार में असुरों को दूर करने के लिए ही प्रसवकाल में स्त्रियाँ अपने सिर की ओर चाकू या अन्य लोहे की वस्तु रखती हैं । प्रसूता स्त्री को अकेली नहीं छोड़ा जाता । प्रसवगृह में २४ घण्टे अग्नि रक्खी जाती है और दीपक जलाया जाता है । इस विषय में स्त्रियाँ यही उत्तर देती हैं कि यह भूत-प्रेतादि से सुरक्षा के लिए ही किया जाता है ।

ये असुर कौन हैं ? क्या ये पुरुषाकार होते हैं, जिन के मुख पीछे और एड़ी आगे को होती है ? क्या वेदों में–

येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरोमुखाः । (अथर्व०

८।६।१५) कह कर स्पष्ट वर्णन नहीं किया है कि असुरों के पैर पीछे और एड़ी आगे को होती है । क्या वेदों में भी ऐसे भूत-प्रेतादि का वर्णन है ? इत्यादि भ्रान्तियों का मूल अज्ञानता है । वेदादि-शास्त्रों में असुर उन क्रिमियों को कहा गया है, जो कि प्रसवागार में प्रवेश करके अपने विष के द्वारा नव जातक को हानि पहुंचाते हैं । ऐसे हानि पहुंचाने वाले कृमियों को प्रसवागार से दूर करने के लिए बालकादि की रक्षार्थ गौर सर्षपादि की आहुतियाँ दी जाती हैं । इन्हीं क्रिमियों का वर्णन वेदों में है—

(क) **त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिम् ॥**—अथर्व० ५।२३।९

अर्थ—तीन शिर और तीन ककुदों वाले क्रिमि को ।

(ख) **विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिम् ॥** —अथर्व० २।३२।२

अर्थ—बड़े रूप वाले व चार आंखों वाले क्रिमि को ।

(ग) **येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरोमुखाः ।**
खलजाः शकधूमजाः० ॥ —अथर्व० ८।६।१५

अर्थ—जिन क्रिमियों के पाँव पीछे की ओर और एड़ी आगे को है । जो खलियान और पुरीषादि मलों से उत्पन्न होते हैं ।

(घ) **ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ॥**
—अथर्व० ८।६।१९

अर्थ—जो उत्पन्न मात्र जातकों को नष्ट कर देते हैं और जो सूतिका स्थान में रहते हैं ।

इत्यादि प्रमाणों से इन असुर क्रिमियों का स्पष्टीकरण हो जाता है कि ये असुर पुरुषाकार भूत प्रेत नहीं हैं, किन्तु प्रसवगृहादि में मलमूत्रादि से उत्पन्न होने वाले विषैले कृमि ही हैं । जिन से सुरक्षा के लिए गौर सर्षपादि की आहुतियाँ तथा प्रकाशादि प्रसूतिगृह में परमावश्यक हैं । इस विषय में विस्तृत वर्णन के लिए श्री पण्डित रामगोपाल जी शास्त्री द्वारा लिखित 'संस्कारविधिमण्डनम्' पुस्तक को अवश्य देखना चाहिए । मान्य विद्वान् ने इस विषय में एक विशेष खोज करके जहां जनसाधारण की एक महाभ्रान्ति का निराकरण किया है, वहां यह भी स्पष्ट किया है कि अथर्ववेद में भूत-प्रेतादि का वर्णन नहीं है, प्रत्युत बालकादि की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए विभिन्न क्रिमियों से सुरक्षा के उपाय बताए हैं । 'शण्डामर्काभ्याम्०' इत्यादि मन्त्रों में भी ऐसे क्रिमियों से ही सुरक्षा का वर्णन किया गया है । इन मन्त्रों में वर्णित पदार्थ देखिए—

(क) **शण्डाः**=(शडि रुजायाम्) रोगोत्पादक, **मर्काः**=शीघ्रगति वाला, **उपवीरः**=(अज गतौ क्षेपणे च) विषों को फेंकने वाला, **शौण्डिकेयः**=(शण गतौ) बड़े वेग से वायुमण्डल में उड़ने वाला, **ऊलूखलः**=ऊपर आकाश में उड़ता हुआ प्राणियों के प्राण ग्रहण करने वाला, **मलिम्लुचः**=मलादि से उत्पन्न होने त्यागने योग्य तथा स्वास्थ्य के चुराने वाला तस्कर, **द्रोणासः**=बड़ी नाक वाला, **च्यवनः**=वेगवान् **क्रिमीः नश्यताद् इतः**=यहां से नष्ट हो ।

(ख) **आलिखन्**=त्वचा को बिगाड़ने वाला, **अनिमिषः**=चक्षु-स्पन्दन रहित, **किंवदन्तः**=कुत्सित शब्दकर्त्ता, **उपश्रुतिः**=कानों के समीप उड़ने वाला, **हर्यक्षः**=भूरे नेत्र वाला, **कुम्भीशत्रुः**=जिस का शत्रु गुग्गुल है, **पात्रपाणिः**=हाथ ही जिस का विषैला पात्र है, **नृमणिः**=मनुष्यों में मन्=मन् शब्दानुकृति करने वाला, **हन्त्रीमुखः**=हिंसक मुख वाला, **सर्षपारुणः**=सरसों की भंति लाल, **च्यवनः**=शीघ्र वेग वाला कीड़ा, **नश्यताद् इतः**=यहां से (प्रसवगृह से) नष्ट होवे ।

मन्त्रोक्त सभी पदार्थों में कीट विशेषों का ही वर्णन स्पष्ट होता है, भूतादि का नहीं । महर्षि दयानन्द ने ऐसी आवश्यक तथा वैज्ञानिक संस्कार की क्रियाओं को कहीं भी नहीं छोड़ा है । उस को न समझने से ही अज्ञानियों को भ्रान्तियाँ होती रहती हैं ।

(५) संस्कारविधि में नामकरण-संस्कार में महर्षि लिखते हैं कि-"जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ आहुति देना ।"

इस पर पौराणिक बन्धुओं का यह आक्षेप है कि तिथि व देवता का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? क्या स्वामी जी ने नक्षत्रादि के देवताओं को मानकर पौराणिकता को स्वीकार नहीं किया है । इस से स्वामी जी ने बालक के जन्म के साथ नक्षत्रादि के प्रभाव को मानकर फलित ज्योतिष को माना है ।

किन्तु महर्षि का तिथि व नक्षत्र के नाम की आहुति का अभिप्राय केवल जन्मदिन के स्मरण के लिए ही है, किसी अन्य पौराणिक फलित प्रभाव से नहीं । तिथि व नक्षत्र के देवता उन के पर्यायवाची ही हैं। नक्षत्राहुति नाक्षत्रिक नाम परम्परा को बताती है । यह भी सम्भव है कि ज्योतिष के ग्रन्थों में इन देवताओं को पर्यायवाची किसी कारण

से भी बनाया हो । जैसे प्रथमा तिथि का देवता ब्रह्मा है। 'ब्रह्मा' एक ही है, अतः प्रथमा का देवता । अष्टमी तिथि का देवता वसु है। क्योंकि वसु भी आठ होते हैं । एकादशी का देवता 'रुद्र' है । क्योंकि रुद्र ११ होते हैं । अलङ्कार और छन्दःशास्त्र में भी इसी प्रकार एक दो आदि अङ्कों के ब्रह्म, नेत्र, राम, वेदादि नाम रक्खे गए हैं ।

यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि जन्म-दिन के लिए तो तिथि व नक्षत्र की आहुति ही पर्याप्त थी, देवताओं की आहुति की क्या आवश्यकता है ? लोक में देखा जाता है कि दो-दो बार भिन्न रूप में उसी एक बात को कहने से वह बात अच्छी तरह स्मरण रह जाती है, वैसे ही यहां भी जानना चाहिए । यह प्राचीन शास्त्रीय शैली है। जैसे–छन्दःशास्त्र में गायत्र्यादि छन्दों के अग्नि, सवितादि सात देवता माने गए हैं । और यह भी लिखा है–'देवतादितश्च' (छन्द० ३।६२) सन्देहास्पद छन्दों का निर्णय देवतादि से करें । छन्द जानने के लिए महर्षि दयानन्द ने वेद-भाष्य में छन्दों के नाम के साथ-साथ षड्जादि स्वर भी लिखे हैं, जिस से संशयास्पद छन्द का निर्णय शीघ्र हो सके। इस प्रकार जैसे छन्दःशास्त्र में प्राचीनाचार्यों ने छन्दोज्ञान के लिए देवता, वर्ण, गोत्रादि लिखे हैं, वैसे ही नामकरण में जन्मदिन के स्मरणार्थ तिथि व नक्षत्र के साथ उन के देवता भी लिखे हैं ।

(६) संस्कारविधि में निष्क्रमणसंस्कार में महर्षि ने लिखा है "बालक की माता दाहिनी ओर से लौटकर बाईं ओर अञ्जलि भर के चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रहके 'ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्०' इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे ।" (संस्कारविधि, पृष्ठ ५४-५५) यहां पर भी पौराणिक बन्धुओं का आक्षेप है कि मूर्त्तिपूजा की जड़ पर कुठाराघात करने वाले और बहु-देवतापूजा के प्रबल विरोधी स्वामी दयानन्द ने चन्द्रमा के प्रति जल छुड़वाकर यहां जड़मूर्त्तिपूजा को स्वीकार किया है । यथार्थ में यहां महर्षि ने 'परमात्मा की स्तुति करके' लिखकर अपने भाव को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है । यहां किसी जड़-चन्द्र की पूजा को स्वामी जी ने कदापि स्वीकार नहीं किया । संस्कारों में प्रायः बाह्यविधियों के द्वारा किसी न किसी प्रकार की शिक्षा या रहस्य को समझाया जाता है। जैसे विवाह में स्त्री-पुरुषों के हृदयों को जोड़ने के लिए वस्त्रों की ग्रन्थि लगाई जाती है। ऐसे ही शिलारोहण, लाजाहोम, ध्रुव-अरुन्धती-

तारा प्रदर्शन तथा सूर्यावलोकनादि विधियाँ पतिव्रतधर्म में दृढ़ता के लिए ही किसी न किसी शिक्षा या रहस्य को समझाती हैं । वैसे ही निष्क्रमणसंस्कार में चन्द्र की ओर देखकर पृथिवी पर जल छोड़ कर परमात्मा के स्तवन से यह रहस्य समझाया गया है—हे परमेश्वर ! जैसे जल और चन्द्र का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । (शुक्लपक्ष में चाँद की चाँदनी में समुद्र के जल के उछलने से इस बात को अच्छी प्रकार समझा जा सकता है ।) वैसे ही बालक का हमारे साथ भी सदा घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहे ।' इस में किसी प्रकार का भी पौराणिक भाव या जड़पूजा का वर्णन कदापि नहीं है ।

(७) संस्कारविधि के चूड़ाकर्मसंस्कार में महर्षि ने लिखा है—
''तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबा के **'ओं विष्णोर्दꣳष्ट्रोऽसि'** इस मन्त्र से छुरे की ओर देखके—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते मा मा हिंसीः ॥

इस मन्त्र को बोल के छुरे को दाहिने में लेवे ।''

यहां पौराणिक इन मन्त्रब्राह्मण के वाक्यों तथा प्रकरणों को न समझकर यह मिथ्यार्थ करके लोगों को बहकाते हैं—'हे छुरे ! तू विष्णु= ईश्वर की दाढ़ है ।' इस अर्थ से यह भी सिद्ध करते हैं—परमेश्वर को निराकार मानने वाले दयानन्द ने भी छुरे को विष्णु की दाढ़ मानकर नमस्ते कही है । अतः वे भी जड़-पूजा को यहां मान रहे हैं । किन्तु उन का यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध तथा शास्त्रविरुद्ध है । यह प्रकरण यज्ञ का है । विष्णु परमेश्वर का भी नाम है, किन्तु **'यज्ञो वै विष्णुः'** (श० १।१।२।१३) प्रमाण से यज्ञ का भी विष्णु नाम है । और 'दंष्ट्र' शब्द 'दंश दशने धातु से करण कारक में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने से बना है। जिस का अर्थ है—काटने का साधन । लोक में दाढ़ को भी 'दंष्ट्र' अन्नादि को काटने के कारण ही कहते हैं । चूड़ाकर्म में बाल काटने का साधन छुरा होता है । प्रकरणानुसार अर्थ इस प्रकार हुआ—

'हे छुरे ! तू विष्णु=यज्ञ का (यज्ञसम्बन्धी) दंष्ट्रः=काटने वाला शस्त्र है।' यहां कोई यह भी आशङ्का कर सकता है कि जड़ छुरे को सम्बोधित क्यों किया गया ? क्या छुरा हमारे वचनों को सुन सकता है ? इस का उत्तर यह है कि यह वेद और ब्राह्मणादि ग्रन्थों की प्राचीन शैली है, जिस को न समझने से विद्वान् भी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं । इस शैली में प्रत्यक्ष स्तुति में जड़ पदार्थ में भी सम्बोधन और मध्यम

पुरुष का प्रयोग करते हैं, परन्तु अर्थ करते समय मध्यम पुरुष का प्रथम पुरुष में व्यत्यय करना चाहिए । महर्षि दयानन्द ने इस वैदिक नियम को बहुत समझा कर स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है–

"वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है । इस से यह भी जानना आवश्यक है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उन से अनेक उपकार लेना जनाया है ।" –(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ २८१, २८२)

निरुक्त में (७।१।१, २) ऋचाओं के तीन भेद किए हैं–परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक । वेद जिस पदार्थ की प्रत्यक्षरूप में स्तुति करता है, चाहे वह स्तोतव्य पदार्थ जड़ हो या चेतन, उस का वर्णन मध्यम पुरुष में करता है । और व्याकरण अष्टाध्यायी का **'व्यत्ययो बहुलम्'** (३।१।८५) सूत्र व्यत्ययों का स्पष्ट निर्देश कर रहा है ।

इस प्रकार के नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति ही शास्त्रों के मिथ्या अर्थ करके अनर्थ करते रहते हैं । इसी प्रकार चूड़ाकर्म के प्रकरण में **'ओषधे त्रायस्व एनं, मैनं हिंसीः'** इस वाक्य का भी वे अनर्थ ही करते हैं । किन्तु व्यत्यय के नियम को समझकर इस का युक्तियुक्त तथा सुसंगत अर्थ इस प्रकार है–'**ओषधे**=यह औषधि **त्रायस्व**=रक्षा करती है, **एनम्**=इस को **मा हिंसीः**=हिंसन नहीं करती है । इसी प्रकार पूर्वोद्धृत **'ओं शिवो नामासि०'** वाक्य का अर्थ भी गलत करते हैं और महर्षि दयानन्द पर यह आक्षेप करते हैं कि ये जड़ छुरे को भी तो नमस्ते करते हैं किन्तु मूर्त्ति के आगे सिर झुकाने से घबराते हैं । क्या छुरे के आगे सिर झुकाना जड़पूजा नहीं है । किन्तु पूर्वोक्त नियमों के जानने से ऐसे मिथ्यार्थों का समूल उन्मूलन हो जाता है । इस मन्त्र का सत्यार्थ इस प्रकार है–"**शिवः**=कल्याण करने वाला, **असि**=निश्चय से तू है । **स्वधितिः**=वज्र अर्थात् लोहा, **ते**=तेरा, **पिता**=उत्पत्ति स्थान है, **नमः**=सत्कार, **ते**=इस का, **मा**=मत, **मा**=मुझ को, **हिंसीः**=दुःख दे।"

यह छुरे का वर्णन है। छुरे की उत्पत्ति लोहे से बताई है और चूड़ाकर्म में छुरे का प्रयोग सत्कार पूर्वक अर्थात् बहुत ही सावधानी से करना चाहिए । बच्चे की त्वचा अत्यधिक कोमल है, इस को किसी प्रकार का कष्ट न हो । इस प्रकार इस मन्त्र में जड़पूजा की कहीं गन्ध भी नहीं है । पौराणिक बन्धुओं को नमः शब्द के 'नमस्कार'

'सत्कार' 'अन्न' तथा वज्रादि अर्थों को ध्यान देकर ही प्रकरणानुसार अर्थ करना चाहिए ।

इसी प्रकार समावर्त्तनसंस्कार के—**'ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम्'** (संस्कारविधि, पृष्ठ ९४) अर्थ में भी पौराणिकों को महाभ्रान्ति है । इस का अर्थ वे इस प्रकार करते हैं—हे जूते ! तू मेरी सब तरह से रक्षा कर । किन्तु यह भ्रान्ति पूर्वोक्त नियमों की अनभिज्ञता के कारण ही है । महर्षि ने इस का अर्थ नहीं किया है । गृहस्थ में प्रवेश करने वाले पुरुष को उपानह, पादवेष्टन, पगरखादि इस मन्त्र से धारण करने के लिए स्वामी जी ने लिखा है । इस की भी पुरुष व्यत्यय से ही संगति लगानी तथा प्रकरण के अनुकूल अर्थ करना उचित है। क्योंकि मन्त्र में किसी वस्तु का नाम नहीं है । लोक में जो भी शरीर की सुरक्षा के बाह्य साधन हैं, वे 'प्रतिष्ठा' पद से गृहीत किए हैं। वे कण्टकादि व सर्दी–गर्मी से शरीर की रक्षा करते हैं । यदि कोई द्विवचनान्त का आग्रह करके 'जूता' ही अर्थ करने का दुराग्रह करे, तब भी पुरुष व्यत्यय से अर्थ की सङ्गति ठीक लगती है । यहां 'जूते' से प्रार्थना नहीं की गई है । ऐसे स्थलों पर भ्रान्ति का मूलकारण पूर्वोक्त वैदिक नियमों से अनभिज्ञता ही है ।

(८) कुछ लोगों का यह भी मिथ्याक्षेप है कि वेदों में वानप्रस्थ तथा संन्यास का कहीं विधान नहीं है । क्योंकि वेद में कहीं भी 'वानप्रस्थ' तथा 'संन्यास' शब्द नहीं है । अतः महर्षि दयानन्द के ये दोनों संस्कार ही अवैदिक हैं । किन्तु यह आक्षेप मिथ्या ही है । शास्त्रों में वानप्रस्थ के लिए 'मुनिः' तथा संन्यास के लिए 'यतिः' शब्द का प्रयोग आता है । जैसे मनुस्मृति के छठे अध्याय में वानप्रस्थ के लिए बहुधा 'मुनि' शब्द का प्रयोग है । उपनिषदों में 'वनी' शब्द का भी प्रयोग हुआ है । वेद में भी वानप्रस्थ के लिए मुनि शब्द का प्रयोग हुआ है । जैसे—ऋ० १०।१३६।५ में **'अथो देवेषितो मुनिः'** शास्त्रों में मिलता है । मनुस्मृति में **'भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्'** (६।५६) **'एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्'** (६।८६) इत्यादि स्थलों में 'यति' शब्द का प्रयोग 'संन्यासी' के लिए आया है । उपनिषदों में इसी 'यति' शब्द का प्रयोग मिलता है । जैसे—**(संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः !)** (मु० उ० ३।२।६) में स्पष्ट ही 'यति' शब्द 'संन्यासी' के लिए प्रयुक्त हुआ है । वेदों में भी 'यति' शब्द का बहुधा प्रयोग

हुआ है—

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत । —ऋ० १०।७२।७
य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः । —ऋ० ८।६।१८
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः । —ऋ० १।१५८।६

इत्यादि स्थलों पर 'यति' शब्द का प्रयोग 'संन्यासी' के लिए हुआ है । अतः वानप्रस्थ तथा संन्यास दोनों आश्रमों का मूल वेदों में होने से पौराणिकों के आक्षेपों का स्पष्ट रूप से खण्डन हो जाता है । और उन के मिथ्याक्षेपों से उन की ज्ञानलवविदग्धता ही प्रकट होती है ।

इसी प्रकार स्वामी जी पर उपनयन-संस्कार के 'यज्ञोपवीतं परमं०' मन्त्र को भी अवैदिक बताकर आक्षेप किया करते हैं । किन्तु स्वामी जी ने प्राचीन आर्यों की श्रेष्ठ परम्पराओं को कहीं भी नहीं छोड़ा है। इस भाव से गृह्यसूत्रों के प्रमाण रखे हैं । उपनयन के लिए वेदों में बहुत प्रमाण मिलते हैं । जैसे कुछ निम्न हैं—

(क) **युवा सुवासाः परिवीत आगात् ।** —ऋ० ३।८।४
(ख) **आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम्० ।** —अथर्व० ११।७।३
(ग) **नमो हरिकेशायोपवीतिने ।** —यजुः० १६।१७

इत्यादि वेद-मन्त्रों से उपनयन की प्रामाणिकता स्पष्ट है । गृह्यसूत्रों के उपनयन मन्त्र को महर्षि ने इसलिए भी संस्कारविधि में स्थान दिया है कि ऋषि-मुनियों ने इस में यज्ञोपवीत के लाभों का समावेश करके इस की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ा दी है । अतः महर्षि का कोई भी प्रकरण अवैदिक नहीं है। यह मिथ्या समझने वालों की भ्रान्ति ही है।

(९) संस्कारविधि में गर्भाधान-प्रकरण में जो 'गर्भाधान की विधि अर्थात् जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे इत्यादि' लिखी है, उस पर भी वेदों व शास्त्रों से अनभिज्ञ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं कि यह स्वामी जी ने कहां से और कैसे लिख दी ? स्वामी जी तो बाल ब्रह्मचारी थे । अतः उन के निष्कलंक चरित्र को भी दूषित करने का दुस्साहस तथा कुचेष्टा किया करते हैं । किन्तु उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि सभी ज्ञान अनुभव से ही नहीं सीखा जाता। वेदादि शास्त्रों को पढ़कर भी बहुत कुछ सीखा जाता है । इस विषय में श्री रामगोपाल जी शास्त्री ने वेदादि शास्त्रों के निम्न प्रमाण दर्शाए हैं, जो इस विषय में बहुत ही प्रकाश डालते हैं—

(क) **ओम् मुखं तदस्य शिर इत्स तेन, जिह्वा पवित्रमश्विनासन्**

सरस्वती । चप्यं न पायुर्भिषगस्य बालो, वस्तीर्न शेपो हरसा तरस्वी॥

—यजु:० १९।८८

इस मन्त्र का महर्षिकृत भाष्य पाठकों को देखना चाहिए । जिस से महर्षि के लेख की स्पष्ट प्रामाणिकता मिल जाती है । महर्षि ने इस मन्त्र के भावार्थ में इस विधि की आवश्यकता तथा उपयोगिता बताते हुए लिखा है—'स्त्रीपुरुष गर्भाधान के समय में परस्पर मिल, प्रेम से पूरित होकर, मुख के साथ मुख, आंख के साथ आंख, मन के साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसन्धान करके गर्भ का धारण करें । जिस से कुरूप वा वक्राङ्ग सन्तान न होवे ।'

(ख) **'अथ यामिच्छेत् गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखे मुखं सन्धायापान्याभिपराण्याद् इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ।'** —शत० १४।७।५।१०

यहां भी वेदोक्त विधियों की ही ऋषियों ने व्याख्या की है । इसी प्रकार की व्याख्या पारस्कर गृह्यसूत्र (१।११।५) में तथा चरक के शरीरस्थान (८।८) में मिलती है । स्वामी जी ने वेदादिशास्त्रों में ही पढ़कर इस विधि को लिखा है । अतः उन पर जो मिथ्याक्षेप किया जाता है, उस का कोई आधार नहीं है ।

(१०) पौराणिक पण्डित महर्षि के ग्रन्थों पर कैसे-कैसे मिथ्या दोष लगाते हैं, उन की छल-कपटपूर्ण हृदयस्थ कलङ्क कालिमा का एक नमूना देखिए—

महर्षि ने विवाह संस्कार से पूर्व लड़का व लड़की के अपने-अपने घरों पर ही कुछ क्रियाओं का विधान करते हुए लिखा है— ''इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू और वर स्नान कर वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठें ।'' —संस्कारविधि विवाहप्रकरणम्

इस लेख पर पौराणिकों का आक्षेप यह है कि विवाहसंस्कार से पूर्व लड़का व लड़की को एकान्त में स्नान करने के लिए कौन माता-पिता अनुमति देंगे ? यह महर्षि का व्यवहार-विरुद्ध तथा अप्रामाणिक लेख है । किन्तु यहां पौराणिकों को प्रकरणानभिज्ञता के कारण ही भ्रान्ति हुई । इस में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देने से भ्रान्ति का निराकरण स्वतः ही हो जाता है—

(क) मन्त्रों का उच्चारण करके सुगन्धित जल से स्नान की विधि

लड़का व लड़की दोनों के लिए महर्षि ने लिखी है । किन्तु इस का अभिप्राय विवाह से पूर्व एकान्तवास में नहीं है । क्योंकि महर्षि की समस्त विधियाँ दोनों के लिए समान अधिकार की बोधक हैं। अतः यह स्नानविधि अपने-अपने घरों पर ही करने के लिए महर्षि ने लिखी है।

(ख) यदि महर्षि का अभिप्राय विवाह से पूर्व लड़का व लड़की के इकट्ठे स्नान से होता तो उसी स्थान पर महर्षि आगे ऐसा क्यों लिखते—"वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार करके...... वधू के घर जाने का ढंग करे ।" अतः पौराणिकों का आक्षेप पूर्वापर-प्रकरण से विरुद्ध शरारत पूर्ण ही है । उन्हें ऐसे आक्षेप करते समय लेशमात्र भी लज्जा व सङ्कोच क्यों नहीं होता ? यह पामरता की पराकाष्ठा ही है ।

संस्कारों की विधि—

महर्षि दयानन्द ने प्रत्येक संस्कार की उचित-स्थान पर सम्पूर्ण विधि लिखी है । और सब संस्कारों में सामान्य तथा उचित समय पर कर्त्तव्य विधियों का संग्रह 'सामान्य-प्रकरण' में किया है । **प्रायः यह देखने में आता है कि संस्कारों में शान्तिपाठ के 'ओम् द्यौः शान्तिः' और 'यज्ञरूप प्रभो' इत्यादि गीतों के गायनों का महर्षि ने कहीं विधान नहीं किया और न ही इन का कहीं गृह्यसूत्रादि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में विधान है । प्रत्येक संस्कार की समाप्ति सामवेदोक्त महावामदेव्य गान से करने का विधान महर्षि ने किया है ।** अतःआर्यों को महर्षि के लेख का आदर करके कर्त्तव्यकर्मों का ग्रहण और अकर्त्तव्यों को छोड़ देना चाहिए ।

प्रमाण भाग के पते क्यों नहीं—

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में भी अन्य ग्रन्थों की भांति प्रमाणभाग में बहुतों के पते नहीं दिये केवल ग्रन्थों के नाम ही दिए हैं। कुछ विद्वानों ने उन के पते खोजकर लिखने का प्रयत्न किया है । उन के विचार में इस से पाठकों को देखने तथा विचारने में सुविधा हो जाती है । परन्तु उन पतों से अनेक भ्रान्तियाँ भी पैदा हो गई हैं । जैसे—

(१) महर्षि द्वारा ऊहित-पाठों के पते कहां और कैसे मिल सकेंगे? और यदि मिलेंगे तो पाठ-भेद अवश्य होगा । क्या उस से सन्देह नहीं होगा कि कौन-कौन पाठ शुद्ध हैं ।

(२) महर्षि ने कहीं भिन्न-भिन्न मन्त्रों के भागों को भी एकत्र

दिखाया है । उन के पते न मिलने पर क्या उन्हें प्रामाणिक न माना जाए ? अथवा प्रत्येक भाग के मिलने पर दूसरे भाग को अशुद्ध माना जाए ?

(३) महर्षि के बाद के प्रकाशनों में बहुत से पाठ-भेद हुए हैं, उन ग्रन्थों से क्या महर्षि के पाठों की तुलना करना उचित है ? और कौन सा पाठ प्रामाणिक माना जाएगा ?

(४) अनेक ग्रन्थों में श्लोक ही बदल दिए हैं, अथवा सम्बद्ध परिशिष्ट भागों को ही पृथक् कर दिया गया है । उनके पते उन ग्रन्थों में कहां मिल सकेंगे ?

अतः महर्षि के ग्रन्थों में पते देना भ्रान्तियों को ही जन्म देना है । हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम महर्षि के ग्रन्थों को यथालिखित ही रहने दें । उस में कहीं भी कोई पते देने का प्रयत्न नहीं किया है।

सामान्य प्रकरण को न समझने से एक भ्रान्ति—महर्षि दयानन्द ने सामान्य प्रकरण के विषय में बहुत ही स्पष्ट लिखा है—"इस से सामान्य विषय जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिये, वह प्रथम सामान्य प्रकरण में लिख दिया है । और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्य प्रकरण की संस्कारों में लिखी है कि जिस को देखके सामान्यविधि की क्रिया वहां सुगमता से कर सके और सामान्य प्रकरण का विधि भी सामान्य प्रकरण में लिख दिया है, अर्थात् वहां का विधि करके संस्कार का कर्त्तव्य-कर्म करे ।"

—संस्कारविधि, भूमिका

इस महर्षि के लेख को न समझ कर कुछ विद्वान् पुरोहित ऐसा भी करते हुए देखे गये हैं कि प्रथम सामान्य प्रकरण की सब विधियाँ कराकर फिर संस्कार की क्रियाएँ प्रारम्भ कर देते हैं । उन्हें उपर्युद्धृत महर्षि की रेखांकित पंक्तियों पर विशेष ध्यान देना चाहिए । जिस में बहुत ही स्पष्ट है कि संस्कारों में सामान्य प्रकरण की जिन विधियों की आवश्यकता है, उन का महर्षि ने यथास्थान पृष्ठ तथा क्रिया का नाम देकर निर्देश किया है, अतः उचित स्थान व समय पर उन विधियों को करना चाहिए। अन्यथा संस्कारों में पृष्ठ तथा क्रियाओं के नाम लिखने की क्या आवश्यकता थी, यदि सामान्य प्रकरण की समस्त विधियाँ संस्कारों के प्रारम्भ में करनी ही होतीं ? सामान्य प्रकरण की समस्त विधियाँ समस्त संस्कारों के प्रारम्भ में करना महर्षि के लेख के सर्वथा विरुद्ध है । इस

भ्रान्ति का जन्म कतिपय नामकरण व अन्नप्राशन संस्कारों में महर्षि लिखित 'सम्पूर्ण विधि करके' शब्दों से भी हुई है । किन्तु यदि महर्षि का यह भाव होता तो उसी के आगे सामान्य प्रकरण की विधियों को पुनः न लिखते । अतः वहां 'सम्पूर्ण' शब्द सापेक्ष ही है । अतः विद्वान् पुरोहितों को संस्कारों में महर्षि द्वारा लिखित यथानिर्दिष्ट विधियों का ही अनुसरण करके एकरूपता अपनानी चाहिए ।

संस्कारों में उपदिष्ट कर्त्तव्य–

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में जहां संस्कारों का समय तथा संस्कारों की विधियाँ सप्रमाण लिखी हैं, वहां संस्कृत व्यक्तियों के लिए जो–जो कर्त्तव्य धर्म आवश्यक हैं, उन का भी सप्रमाण उपदेश दिया है । क्या यह कर्त्तव्योपदेश संस्कार के दिन तक ही निश्चित है ? ऐसा महर्षि का भाव नहीं है । कर्त्तव्य कर्मों में दो प्रकार के उपदेश महर्षि ने लिखे हैं–(१) सामान्य धर्म, (२) विशेष धर्म । सामान्य कर्त्तव्य तो सब मनुष्यों को सब अवस्थाओं में करने ही चाहिए। किन्तु जो विशेष–कर्त्तव्यों की शिक्षा दी है, उन का पालन तब तक अवश्य करना चाहिए, जब तक दूसरा संस्कार न हो । जैसे वेदारम्भ संस्कार में जो ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी को कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश दिया है, उस का पालन तब तक विधिवत् करना चाहिए, जब तक दूसरा संस्कार न हो । कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त संस्कार एक शृंखला की भांति परस्पर सम्बद्ध तथा किसी विशेषावस्था को छोड़कर क्रमबद्ध ही हैं । जिस से मानव स्वतः ही जीवन के लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर प्रगति करता जाए । अतः स्पष्ट है कि संस्कारों में उपदिष्ट–धर्म दूसरे संस्कारों तक श्रद्धा से अवश्य करते रहना चाहिए ।

तिथि–फाल्गुन कृष्णा प्रतिपदा
सं० २०३४ वि० २४।२।१९७८

विनीत–**राजवीर शास्त्री**

ओ३म्

प्रकाशकीय

आर्ष साहित्य-प्रचार ट्रस्ट का उद्देश्य दयानन्दकृत साहित्य तथा आर्ष साहित्य का प्रचार-प्रसार करना है । इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ट्रस्ट साहित्य का प्रकाशन करके लागत मूल्यमात्र अथवा उस से भी कम मूल्य में जिज्ञासु पाठकों तक पहुंचाता है ।

महर्षि दयानन्दकृत साहित्य को ट्रस्ट विना किसी प्रक्षेप के मूल रूप में प्रकाशित करता है, जिस से महर्षि की अनुपम निधियों को अक्षुण्ण रखा जा सके ।

प्रस्तुत संस्करण से पूर्व ट्रस्ट संस्कारविधि के सोलह संस्करण प्रकाशित कर चुका है जो अत्यल्प मूल्य होने के कारण हाथों हाथ बिकते रहे हैं । पिछले कुछ समय से पाठकों के सुझाव आ रहे थे कि इस पुस्तक की कम्पोजिंग कम्प्यूटर से कराई जाये ।

पाठकों के सुझावों के अनुसार नये रूप में उत्तम कागज तथा बढ़िया जिल्द में यह सत्रहवाँ संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव हर्ष हो रहा है ।

यद्यपि प्रस्तुत संस्करण का मूल्य पूर्वापेक्षया कुछ अधिक है, तथापि इस संस्करण में कागज आदि की मूल्य वृद्धि को ध्यान में रखते हुए यह मूल्य भी अधिक नहीं है।

आशा है वैदिक धर्मानुरागी पाठकगण इस संस्करण से लाभान्वित होंगे ।

धर्मपाल आर्य

दिनांक *मन्त्री,* आर्ष साहित्य-प्रचार ट्रस्ट

१३ अप्रैल २०१०

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

सब सज्जन लोगों को विदित होवे कि मैंने बहुत सज्जनों के अनुरोध करने से श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९३२ कार्त्तिक कृष्णपक्ष ३०, शनिवार के दिन 'संस्कारविधि' का प्रथमारम्भ किया था । उस में संस्कृतपाठ सब एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करनेवाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर-दूर होने से कठिनता पड़ती थी । और जो १००० एक हजार पुस्तक छपे थे, उन में से अब तक एक भी नहीं रहा। इसलिये श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९४० आषाढ बदि १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिए विचार किया ।

अब की वार जिस-जिस संस्कार का उपदेशार्थ प्रमाण-वचन और प्रयोजन है, वह-वह संस्कार के पूर्व लिखा जायेगा । तत्पश्चात् जो-जो संस्कार में कर्त्तव्य विधि है, उस-उस को क्रम से लिखकर पुनः उस संस्कार का शेष विषय जो कि उस संस्कार से दूसरे संस्कार तक करना चाहिए, वह लिखा है । और **जो विषय प्रथम अधिक लिखा था, उस में से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है और अब की वार जो-जो अत्यन्त उपयोगी विषय है, वह-वह अधिक भी लिखा है ।**

इस में यह न समझा जावे कि प्रथम विषय युक्त न था, और युक्त छूट गया था उस का संशोधन किया है, **किन्तु उन विषयों का यथावत् क्रमबद्ध संस्कृत के सूत्रों में प्रथम लेख किया था ।** उस में सब लोगों की बुद्धि कृतकारी नहीं होती थी, इसलिए अब सुगम कर दिया है । क्योंकि संस्कृतस्थ विषय विद्वान् लोग समझ सकते थे, साधारण नहीं ।

इस में सामान्य विषय, जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिए, वह प्रथम सामान्यप्रकरण में लिख दिया है । और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्यप्रकरण की संस्कारों में अपेक्षित है, उस के पृष्ठ पंक्ति की प्रतीक उन कर्त्तव्य संस्कारों में लिखी है कि जिस को देखके सामान्यविधि की क्रिया वहां सुगमता

से कर सकें और सामान्यप्रकरण का विधि भी सामान्यप्रकरण में लिख दिया है, अर्थात् वहां का विधि करके कर्तव्य संस्कार का कर्त्तव्य कर्म करे । और जो सामान्यप्रकरण का विधि लिखा है, वह एक स्थान से अनेक स्थलों में अनेक वार करना होगा । जैसे अग्न्याधान प्रत्येक संस्कार में कर्त्तव्य है, वैसे वह सामान्यप्रकरण में एकत्र लिखने से सब संस्कारों में वारंवार न लिखना पड़ेगा ।

इस में प्रथम ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना, पुनः स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ तदनन्तर सामान्यप्रकरण, पश्चात् गर्भाधानादि अन्त्येष्टिपर्यन्त सोलह संस्कार क्रमशः लिखे हैं और यहां सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है, क्योंकि इस में कर्मकाण्ड का विधान है । इसलिये विशेषकर क्रिया-विधान लिखा है । और जहां-जहां अर्थ करना आवश्यक है, वहां-वहां अर्थ भी कर दिया है । और मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेद-भाष्य में लिखे ही हैं, जो देखना चाहें वहां से देख लेवें । यहां तो केवल क्रिया करना ही मुख्य है । **जिन करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं । इसलिये संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है ।**

॥ इति भूमिका ॥

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

ओ३म् नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय ।

अथ संस्कारविधिं वक्ष्यामः

ओं सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

—तैत्तिरीय आरण्यके, अष्टमप्रपाठके, प्रथमानुवाके

सर्वात्मा सच्चिदानन्दो विश्वादिर्विश्वकृद्विभुः ।
भूयात्तमां सहायो नस्सर्वेशो न्यायकृच्छुचिः ॥१॥
गर्भाद्या मृत्युपर्य्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि ।
वक्ष्यन्ते तं नमस्कृत्यानन्तविद्यं परेश्वरम् ॥२॥
वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।
आर्य्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥३॥
संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते ।
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते ॥४॥
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः ।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्द्धनः ॥५॥
कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थनतत्परैः ।
वेदविज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः ॥६॥
प्रमाणैस्तान्यनादृत्य क्रियते वेदमानतः ।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः ॥७॥
बहुभिः सज्जनैस्सम्यङ् मानवप्रियकारकैः ।
प्रवृत्तो ग्रन्थकरणे क्रमशोऽहं नियोजितः ॥८॥
दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा हीशशरणाऽ-
स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः ॥९॥
चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्त्तिकस्यान्तिमे दले ।
अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥१०॥

विन्दुवेदाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुचौ मासेऽसिते दले ।
त्रयोदश्यां रवौ वारे पुनः संस्करणं कृतम् ॥११॥

सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना स्थिरचित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगाके करे । और सब लोग उस में ध्यान लगाकर सुनें और विचारें—

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनामन्त्राः

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव ।
यद् भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व ॥१॥ —यजुः अ० ३०। मं० ३॥

अर्थ—हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, (देव) शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर ! आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा सुव) दूर कर दीजिये । (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं, (तत्) वह सब हम को (आ सुव) प्राप्त कीजिए ॥१॥

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत् ।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥२॥

—यजुः अ० १३ । मं० ४॥

अर्थ—जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करनेहारे सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो (भूतस्य) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एक ही चेतनस्वरूप (आसीत्) था, जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्त्तत) वर्तमान था, (सः) सो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यादि को (दाधार) धारण कर रहा है । हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिए (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें ॥२॥

यऽ आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ऽ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः ।
यस्य॑ च्छा॒याऽमृ॒तं यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥३॥

—यजुः अ० २५। मं० १३॥

अर्थ—(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता, (बलदाः)

शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा, (यस्य) जिस की (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं, और (यस्य) जिस का (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष, सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, (यस्य) जिस का (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्षसुखदायक है, (यस्य) जिस का न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ॥३॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽ इद्राजा जगतो बभूव ।
यऽईशेऽ अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

—यजुः अ० २३। मं० ३

अर्थ—(यः) जो (प्राणतः) प्राणवाले और (निमिषतः) अप्राणिरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने अनन्त महिमा से (एकः इत्) एक ही (राजा) विराजमान राजा (बभूव) है, (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिये (हविषा) अपनी सकल उत्तम सामग्री से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥४॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

—यजुः अ० ३२। मं० ६॥

अर्थ—(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाव वाले (द्यौः) सूर्य आदि (च) और (पृथिवी) भूमि को (दृढा) धारण, (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण, और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है, (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोकलोकान्तरों को (विमानः) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है, हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥५॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

—ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं० १०॥

अर्थ—हे (प्रजापते) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा ! (त्वत्) आप से (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए जड़ चेतनादिकों को (न) नहीं (परि बभूव) तिरस्कार करता है, अर्थात् आप सर्वोपरि हैं । (यत्कामाः) जिस-जिस पदार्थ की कामनावाले हम लोग (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें, (तत्) उस-उस की कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे । जिस से (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ।।६।।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवाऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।।७।।

—यजु० अ० ३२। मं० १०।।

अर्थ—हे मनुष्यो! (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों का (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक, (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक, (सः) वह (विधाता) सब कामों का पूर्ण करनेहारा, (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोकमात्र और (धामानि) नाम, स्थान, जन्मों को (वेद) जानता है । और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुखदुःख से रहित, नित्यानन्दयुक्त (धामन्) मोक्षस्वरूप, धारण करनेहारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त होके (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, वही परमात्मा अपना गुरु आचार्य राजा और न्यायाधीश है । अपने लोग मिलके सदा उस की भक्ति किया करें ।।७।।

अग्ने नय सुपथा रायेऽ अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम ।।८।।

—यजुः अ० ४०। मं० १६

अर्थ—हे (अग्ने) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करनेहारे, (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर ! आप जिस से (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं, कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये । और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये । इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नमः उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें, और सर्वदा आनन्द में रहें ।।८।।

।। इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरणम् ।।

अथ स्वस्तिवाचनम्

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥१॥
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥२॥ —ऋ०म० १। सू० १। मं० १, ९।

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः ।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥३॥
स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः ।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥४॥
विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये ।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥५॥
स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति ।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥६॥
स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि ॥७॥
—ऋ० मं० ५। सू० ५१।११-१५॥

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥
—ऋ० मं० ७। सू० ३५।१५॥

येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः ।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये ॥९॥
नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद् देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥१०॥
सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् ।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥११॥
को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन ।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥१२॥

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥१३॥
य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥१४॥
भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥१५॥
सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१६॥
विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥१७॥
अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः ।
आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥१८॥
अरिष्टः स मर्त्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥१९॥
यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥२०॥
स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य१प्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥२१॥
स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥२२॥

—ऋ० मं० १०। सू० ६३॥ [मं० ३–१६]

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽ आप्यायध्वमघ्न्याऽ इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽ अयक्ष्मा मा व स्तेनऽ ईशत माघशंसो ध्रुवाऽ अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥२३॥ —यजु० अ० १। मं० १

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽ अपरीतासऽउद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद्वृधेऽ असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥२४॥
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानांꣳ रातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानांꣳ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽआयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥२५॥

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥२६॥
स्वस्ति नऽ इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्योऽ अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥२७॥
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥२८॥
—यजु० अ० २५। मं० १४, १५, १८, १९, २१॥

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥२९॥
त्वमग्ने यज्ञानाꣳ होता विश्वेषाꣳ हितः ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥३०॥ —साम० पूर्वा० प्रपा० १। मं० १, २॥
ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥३१॥
—अथर्व० कां० १। सू० १। मं० १॥

॥ इति स्वस्तिवाचनम् ॥

अथ शान्तिकरणम्

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥१॥
शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥२॥
शं नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥३॥
शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः ॥४॥

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः॥५॥
शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥६॥
शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्व१ः शम्वस्तु वेदिः ॥७॥
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥८॥
शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥९॥
शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥१०॥
शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः॥११॥
शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥१२॥
शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः१ शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥१३॥

—ऋ०मं० ७। सू० ३५। मं० १–१३

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१४॥
शन्नो वातः पवताꣳ शन्नस्तपतु सूर्य्यः ।
शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु ॥१५॥
अहानि शम्भवन्तु नः शꣳ रात्रीः प्रति धीयताम् ।
शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्नऽइन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥१६॥
शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये । शंयोरभिस्रवन्तु नः॥१७॥
द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥१८॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥१९॥

—यजुः० अ० ३६। मं० ८, १०–१२, १७, २४॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२०॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२१॥
यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥२२॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२३॥
यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२४
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२५॥

—यजुः० अ० ३४। मं० १–६॥

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
शꣳ राजन्नोषधीभ्यः ॥२६॥ —साम० उत्तरा० प्रपा० १। मं० ३॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥२७॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥२८॥

—अथर्व० कां० १९।१५।५, ६

॥ इति शान्तिकरणम् ॥[1]

१. इस स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण की सर्वत्र जहाँ–जहाँ प्रतीक धरें, वहाँ–वहाँ करना होगा ।

अथ सामान्यप्रकरणम्

नीचे लिखी हुई क्रिया सब संस्कारों में करनी चाहिये । परन्तु जहां-कहीं विशेष होगा, वहां सूचना कर दी जायेगी कि यहां पूर्वोक्त अमुक कर्म न करना, और इतना अधिक करना, स्थान-स्थान में जना दिया जायेगा ।

यज्ञदेश—यज्ञ का देश पवित्र, अर्थात् जहां स्थल वायु शुद्ध हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो ।

यज्ञशाला—इसी को 'यज्ञमण्डप' भी कहते हैं । यह अधिक से अधिक १६ सोलह हाथ सम चौरस चौकोण, और न्यून से न्यून ८ आठ हाथ की हो । यदि भूमि अशुद्ध हो तो यज्ञशाला की पृथिवी, और जितनी गहरी वेदी बनानी हो, उतनी पृथिवी दो-दो हाथ खोद अशुद्ध मिट्टी निकालकर उस में शुद्ध मिट्टी भरें । यदि १६ सोलह हाथ की सम चौरस हो तो चारों ओर २० बीस खम्भे, और जो ८ आठ हाथ की हो तो १२ बारह खम्भे लगाकर उन पर छाया करें ।

वह छाया की छत्त वेदी की मेखला से १० दश हाथ ऊंची अवश्य होवे । और यज्ञशाला के चारों दिशा में ४ चार द्वार रखें और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा पताका पल्लव आदि बांधें । **नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन करें और कुंकुम, हल्दी, मैदा की रेखाओं से सुभूषित किया करें । मनुष्यों को योग्य है कि सब मङ्गलकार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें ।** इसीलिए निम्नलिखित सुगन्धित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुण्ड में देवें ।

यज्ञकुण्ड का परिमाण

जो लक्ष आहुति करनी हों तो चार-चार हाथ का चारों ओर सम चौरस चौकोण कुण्ड ऊपर और उतना ही गहिरा और चतुर्थांश नीचे, अर्थात् तले में १ एक हाथ चौकोण लम्बा-चौड़ा रहे । इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों, उतना ही गहिरा-चौड़ा कुण्ड बनाना, परन्तु अधिक आहुतियों में दो-दो हाथ अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में छह हस्त परिमाण का चौड़ा और सम चौरस कुण्ड बनाना । और जो पचास हजार आहुति देनी हों तो एक हाथ घटावे । अर्थात् तीन हाथ गहिरा-चौड़ा सम चौरस और पौन हाथ नीचे तथा पच्चीस हजार आहुति देनी हों तो दो हाथ

चौड़ा-गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे । दश हजार आहुति तक इतना ही, अर्थात् दो हाथ चौड़ा-गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे रखना । पांच हजार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा-गहिरा सम चौरस और साढ़े आठ अंगुल नीचे रहे। यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है । यदि इसमें २५०० (ढाई हजार) आहुति मोहनभोग, खीर और २५०० (ढाई हजार) घृत की देवें तो दो ही हाथ का चौड़ा-गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे कुण्ड रखें ।

चाहे घृत की हजार आहुति देनी हों तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा-गहिरा सम चौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावें । और इन कुण्डों में १५ पन्द्रह अंगुल की मेखला अर्थात् पांच-पांच अंगुल की ऊंची ३ तीन बनावें । और ये ३ तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी । प्रथम ५ पांच अंगुल ऊंची और ५ पांच अंगुल चौड़ी, इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावें ।

यज्ञसमिधा

पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब, बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-बड़ी कटवा लेवें, परन्तु ये समिधा कीड़ा लगीं, मलिन-देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों । अच्छे प्रकार देख लेवें । **और चारों ओर बराबर और बीच में चुनें ।**

होम के द्रव्य चार प्रकार

(प्रथम–**सुगन्धित**) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि। (द्वितीय–**पुष्टिकारक**) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, **चावल, गेहूं, उड़द** आदि । (तीसरे–**मिष्ट**) **शक्कर, सहत, छुवारे, दाख** आदि । (चौथे–**रोगनाशक**) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ ।

स्थालीपाक

नीचे लिखे विधि से भात, खिचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि सब उत्तम पदार्थ बनावें । इस का प्रमाण–

ओं देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि होम के सब द्रव्य को यथावत् शुद्ध कर लेना अवश्य चाहिये, अर्थात् सब को यथावत् शोध-छान, देख-भाल, सुधार कर करें । इन द्रव्यों को यथायोग्य मिलाके पाक करना । जैसे कि सेर घी के मोहनभोग में रत्तीभर कस्तूरी, मासेभर

केशर, दो मासे जायफल–जावित्री, सेरभर मीठा, सब डालकर मोहनभोग बनाना । इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खिचड़ी, मोदक आदि होम के लिये बनावें ।

चरु अर्थात् होम के लिये पाक बनाने की विधि–

'ओम् अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' अर्थात् जितनी आहुति देनी हों, प्रत्येक आहुति के लिये चार–चार मूठी चावल आदि ले के **(ओम् अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि)** अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके पाकस्थाली में डाल अग्नि से पका लेवें । जब होम के लिये दूसरे पात्र में लेना हो, तभी नीचे लिखी आज्यस्थाली वा शाकल्यस्थाली में निकालके यथावत् सुरक्षित रखें, और उस पर घृत सेचन करें ।

यज्ञपात्र

विशेषकर **चांदी, सोना अथवा काष्ठ** के पात्र होने चाहियें । निम्नलिखित प्रमाणे–

अथ पात्रलक्षणान्युच्यन्ते

बाहुमात्र्यः पाणिमात्रपुष्कराः, षडङ्गुलखातास्त्वग्बिला हंसमुख-प्रसेकाः, मूलदण्डाश्चतस्त्रः स्त्रुचो भवन्ति । तत्र पालाशी जुहूः, आश्वत्थ्युपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा, अग्निहोत्रहवणी च ।

अरत्निमात्रः खादिरः स्त्रुवः, अङ्गुष्ठपर्वमात्रपुष्करः, तथाविधो द्वितीयो वैकङ्कतः स्त्रुवः ।

वारणं बाहुमात्रं मकराकारम्, अग्निहोत्रहवणीनिधानार्थं कूर्चम् ।

अरत्निमात्रं खादिरं खड्गाकृति वज्रम् ।

वारणान्यहोमसंयुक्तानि । तत्रोलूखलं नाभिमात्रम् । मुसलं शिरोमात्रम्। अथवा मुसलोलूखले वार्क्षे सारदारुमये शुभे इच्छाप्रमाणे भवतः। तथा–

खादिरं मुसलं कार्यं पालाशः स्यादुलूखलः ।
यद्वोभौ वारणौ कार्यौ तदभावेऽन्यवृक्षजौ ॥

शूर्पं वैणवमेव वा ऐषीकं नलमयं वाऽचर्मबद्धम् ।

प्रादेशमात्री वारणी शम्या ।

कृष्णाजिनमखण्डम् ।

दृषदुपले अश्ममये । वारणीं २४ हस्तमात्रीं, २२ अरत्निमात्रीं वा खातमध्यां मध्यसंगृहीतामिडापात्रीम् ।

अरत्निमात्राणि ब्रह्मयजमानहोतृपत्न्यासनानि ।

मुञ्जमयं त्रिवृतं व्याममात्रं योक्त्रम् ।
प्रादेशदीर्घे अष्टाङ्गुलायते षडङ्गुलखातमण्डलमध्ये पुरोडाशपात्र्यौ।
प्रादेशमात्रं द्व्यङ्गुलपरीणाहं तीक्ष्णाग्रं श‍ृतावदानम्।
आदर्शाकारे चतुरस्त्रे वा प्राशित्रहरणे । तयोरेकमीषत्खातमध्यम्।
षडङ्गुलं कङ्कतिकाकारमुभयतः खातं षडवत्तम् ।
द्वादशाङ्गुलमर्द्धचन्द्राकारमष्टाङ्गुलोत्सेधमन्तर्द्धानकटम् ।
उपवेशोऽरत्निमात्रः ।
मुञ्जमयी रज्जुः ।
खादिरान् द्वादशाङ्गुलदीर्घान् चतुरङ्गुलमस्तकान् तीक्ष्णाग्रान् शङ्कून् ।
यजमानपूर्णपात्रं पुरुषचतुष्टयाहारपाकपर्याप्तम् ।
समिदिध्मार्थं पलाशशाखामयम् ।
कौशं बर्हिः ।
ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलाङ्गुलीयकवासांसि ।
पत्नीयजमानपरिधानार्थं क्षौमवासश्चतुष्टयम् ।
अग्न्याधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपञ्चाशद् गावः, द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः, षट्पक्षे त्रयोदश, सर्वेषु पक्षेषु आदित्येष्टौ धेनुः । वरार्थं चतस्त्रो गावः ।

स्त्रुवः ४, अंगुल २४ शम्या प्रादेश १ अरणी ४

उपल श‍ृतावदान प्रादेशमात्र कूर्च बाहुमात्र १

पाटला ४, लम्बा २४ अंगुल

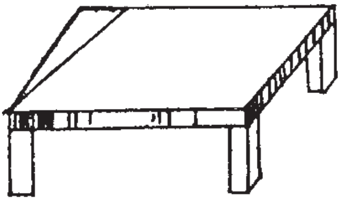

उलूखल नाभिमात्र

मुसल

पूर्णपात्र अ० १२, चौड़ा अंगुल ६

स्रुच सर्व ४, बाहुमात्र

अभ्रि १, अं० २४

ओवली अं० १२

चात्र अं० १२

षडवत्त अं० २४

पुरोडाशपात्री

इडा अंगुल २४

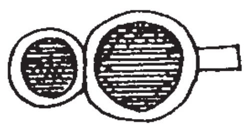

अंगुल ६ पोली अंगुल
४ ऊँची अधरारणी

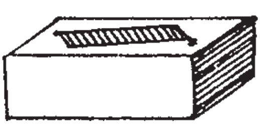

प्राशित्रहरणे
दर्पणाकार

पिष्टपात्री

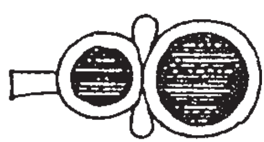

प्रणीता अं० १२

प्रोक्षणी अं० १२

अंगोछा २४ अं० लम्बा

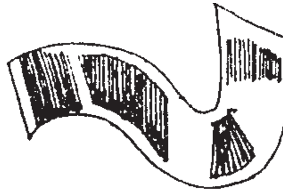

अन्तर्धान १, अं० १२

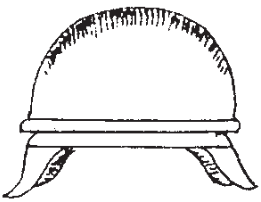

खाँडा अंगुल २४

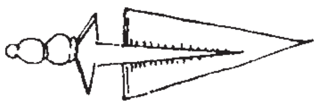

उत्तरारणी टुकड़ा १८

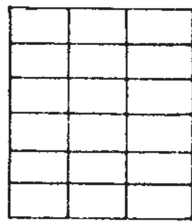

मूलेखात दृषद्

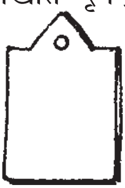

उपवेश १, अं० २४

शूर्प

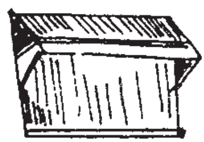

समिध पलाश की १८ हस्त, ३ इध्म, परिधि ३ पलाश की बाहुमात्र। सामिधेनी समित् प्रादेशमात्र । समीक्षण लेर ५ । शाटी १ । दृषदुपल १ दीर्घ अंगुल १२ । पृ० १५ उपल अंगुल ६ । नेतु व्याम=हाथ ४, त्रिवृत् तृण वा गोबाल का ।

अथ ऋत्विग्वरणम्

यजमानोक्तिः–'ओमावसोः सदने सीद' ।

इस मन्त्र का उच्चारण करके ऋत्विज् को कर्म कराने की इच्छा से स्वीकार करने के लिए प्रार्थना करे ।

ऋत्विगुक्तिः–'ओं सीदामि' ।

ऐसा कहके जो उस के लिये आसन बिछाया हो उस पर बैठे ।

यजमानोक्तिः—'अहमद्योक्तकर्मकर्मकरणाय भवन्तं वृणे'।
ऋत्विगुक्तिः—'वृतोऽस्मि' ।

ऋत्विजों के लक्षण—अच्छे विद्वान्, धार्मिक, जितेन्द्रिय कर्म करने में कुशल, निर्लोभ, परोपकारी दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, सुशील, वैदिक मत वाले, वेदवित् एक, दो, तीन अथवा चार का वरण करें ।

जो एक हो तो उस का पुरोहित, और जो दो हों तो ऋत्विक्, पुरोहित और ३ तीन हों तो ऋत्विक्, पुरोहित और अध्यक्ष, और जो चार हों तो होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ।

इन का आसन वेदी के चारों ओर, अर्थात् होता का वेदी से पश्चिम आसन पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिणमुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख, और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिए और **यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख, अथवा दक्षिण में आसन पर बैठके उत्तराभिमुख रहे ।** इन ऋत्विजों को सत्कारपूर्वक आसन पर बैठाना, और वे प्रसन्नतापूर्वक आसन पर बैठें । और उपस्थित कर्म के विना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें ।

और अपने-अपने जलपात्र से सब जने, जो कि यज्ञ करने को बैठे हों, वे इन मन्त्रों से तीन-तीन आचमन करें, अर्थात् एक-एक से एक-एक वार आचमन करें । वे मन्त्र ये हैं—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥ इस से एक ।
ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥ इस से दूसरा ।
ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥ इस से तीसरा आचमन करके, तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल करके अङ्गों का स्पर्श करें—

ओं वाङ्म आस्येऽस्तु ॥ इस मन्त्र से मुख ।
नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र ।
ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आँखें ।
ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥४॥ इस मन्त्र से दोनों कान ।
ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥५॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु ।
ओम् ऊर्वोर्मऽओजोऽस्तु ॥६॥ इस मन्त्र से दोनों जंघा और
ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥

इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल-स्पर्श करके मार्जन करना । पूर्वोक्त

समिधाचयन वेदी में करें । पुनः—

ओं भूर्भुवः स्वः ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला, अथवा घृत का दीपक जला, उस से कपूर में लगा, किसी एक पात्र में धर, उस में छोटी-छोटी लकड़ी लगाके यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा, यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे । वह मन्त्र यह है—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥

—यजुः अ० ३। मं० ५॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर, उस पर छोटे-छोटे काष्ठ और थोड़ा कपूर धर, अगला मन्त्र पढ़के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे—

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥

—यजुः अ० १५। मं० ५४॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे, तब चन्दन की अथवा ऊपरलिखित पलाशादि की तीन लकड़ी आठ-आठ अंगुल की घृत में डुबा, उन में से एक-एक निकाल नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें । वे मन्त्र ये हैं—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥१॥ —इस मन्त्र से एक

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ इदमग्नये इदं न मम ॥२॥

—इस से, और

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥३॥

—इस मन्त्र से अर्थात् इन दोनों से दूसरी ।

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे इदं न मम ॥४॥

—यजुः अ० ३। मं० १, २, ३॥

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवें ।

इन मन्त्रों से समिदाधान करके होम का शाकल्य, जो कि यथावत् विधि से बनाया हो, सुवर्ण, चांदी, कांसा आदि धातु के पात्र अथवा काष्ठ–पात्र में वेदी के पास सुरक्षित धरें । पश्चात् उपरिलिखित घृतादि जो कि उष्ण कर छान, पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिलाकर पात्रों में रखा हो, उसमें से कम से कम ६ मासा भर घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो, अधिक से अधिक छटांक भर की आहुति देवें, यही आहुति का प्रमाण है ।

उस घृत में से चमसा कि जिस में छः मासा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भरके नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देनी–

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम ॥५॥

तत्पश्चात् वेदी के पूर्व दिशा आदि और अञ्जलि में जल लेके चारों ओर छिड़कावे । उसके ये मन्त्र हैं–

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥ इस मन्त्र से पूर्व ।

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ इस से पश्चिम ।

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ इस से उत्तर । और–

ओं देव॑ सवितः॒ प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य । दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु ॥

–यजुः अ० ३०। मं० १

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावे ।

इसके पश्चात् **सामान्यहोमाहुति** गर्भाधानादि प्रधान संस्कारों में अवश्य करें । **इस में मुख्य होम के आदि और अन्त में जो आहुति दी जाती हैं,** उन में से यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जो एक आहुति, और यज्ञकुण्ड के दक्षिण भाग में दूसरी आहुति देनी होती है, उस का नाम **''आघारावाज्याहुति''** कहते हैं । और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियां दी जाती हैं, उन का नाम **''आज्यभागाहुति''** कहते हैं । सो घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा, मध्यमा, अनामिका से स्रुवा को पकड़के–

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के उत्तर भाग अग्नि में ।

ओं सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय इदं न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी । तत्पश्चात्—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय इदन्न मम ॥

इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी ।

उसके पश्चात्=चार आहुति अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति देके, जब **प्रधान होम अर्थात् जिस-जिस कर्म में जितना-जितना होम करना हो करके, पश्चात् भी पूर्णाहुति पूर्वोक्त चार (आघारावाज्यभागा०) देवें ।**

पुनः शुद्ध किये हुए उसी घृतपात्र में से स्रुवा को भरके प्रज्वलित समिधाओं पर व्याहृति की चार आहुति देवें—

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय इदन्न मम ॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥ इदमग्नि-वाय्वादित्येभ्यः इदं न मम ॥

ये चार घी की आहुति देकर **स्विष्टकृत् होमाहुति एक ही है,** यह **घृत** की अथवा **भात** की देनी चाहिये । उस का मन्त्र—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्ट-त्स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा ॥ इदमग्नये स्विष्टकृते इदं न मम ॥

इस से एक आहुति करके, **प्राजापत्याहुति** करें । नीचे लिखे मन्त्र की मन में बोलके देनी चाहिए—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदं न मम ॥

इस से मौन करके एक आहुति देकर चार आज्याहुति घृत की देवें । परन्तु जो नीचे लिखी आहुति **चौल, समावर्त्तन और विवाह में मुख्य हैं** । वे चार मन्त्र ये हैं—

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः ।
आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय इदन्न मम ॥१॥

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः ।
तमीमहे महागयं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय इदन्न मम ॥२॥

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय इदन्न मम ॥३॥

—ऋ० मं० ९। सू० ६६। मं० १९-२१॥

ओं भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥४॥ —ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं० १०॥

इन से घृत की ४ चार आहुति करके **''अष्टाज्याहुति''** के निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गल-कार्यों में ८ आठ आहुति देवें, परन्तु किस-किस संस्कार में कहां-कहां देनी चाहियें, यह विशेष बात उस-उस संस्कार में लिखेंगे । वे आठ आहुति-मन्त्र ये हैं—

ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः। यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम् इदं न मम ॥१॥

ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ । अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा ॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम् इदं न मम ॥२॥

—ऋ० मं० ४। सू० १। मं० ४, ५॥

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय ।
त्वामवस्युराचके स्वाहा ॥ इदं वरुणाय इदं न मम ॥३॥

—ऋ० मं० १। सू० २५। मं० १९॥

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय इदं न मम ॥४॥ —ऋ० मं० १। सू० २४। मं० ११॥

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्क्काः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्क्केभ्यः इदं न मम ॥५॥

ओम् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयाऽसि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये अयसे इदं न मम ॥६॥

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा ॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायादितये च इदं न मम ॥७॥

—ऋ० मं० १। सू० २४। मं० १५॥

ओं भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्याम् इदं न मम ॥८॥ —यजुः अ० ५। मं० ३॥

सब संस्कारों में **मधुर स्वर** से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे । **न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे, किन्तु मध्य भाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है, करे ।** यदि यजमान न पढ़ा हो तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे । यदि कोई कार्यकर्त्ता जड़ मन्दमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो तो वह शूद्र है । अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करें, और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावें ।

पुनः निम्नलिखित मन्त्र से पूर्णाहुति करें । स्रुवा को घृत से भरके—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ॥

इस मन्त्र से एक आहुति देवें । ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति देके, **जिस को दक्षिणा देनी हो देवें, वा जिस को जिमाना हो जिमा, दक्षिणा देके सब को विदाकर स्त्रीपुरुष हुतशेष घृत, भात वा मोहनभोग को प्रथम जीमके पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें ।**

मङ्गलकार्य

अर्थात् गर्भाधानादि संन्यास—संस्कार पर्यन्त पूर्वोक्त और निम्नलिखित सामवेदोक्त वामदेव्यगान अवश्य करें । वे मन्त्र ये हैं—

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ ३ २ १ २
ओं भूर्भुवः स्वः । कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।
२ ३ १ २ ३ २
कया शचिष्ठया वृता ॥१॥

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
ओं भूर्भुवः स्वः । कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
दृढा चिदारुजे वसु ॥२॥

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ओं भूर्भुवः स्वः । अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्।
३ १ १ ३ १ २
शतं भवास्यूतये ॥३॥

महावामदेव्यम्

काऽ५या । नश्चाँ३ यित्रा३ आभुवात् । ऊ । ती सदावृधः । स खा । औ३ होहायि । कया२३ शचायि । ष्ठयौहो३। हुम्मा२। वाऽ२र्तो३ऽ५हायि ॥(१)॥

काऽ५स्त्वा । सत्यो३मा३दानाम् । मा । हिष्ठोमात्सादन्ध । सा औ३हो हायि । दृढा२३ चिदा । रुजौहो३। हुम्मा२ । वाऽ३सो ३ ऽ ५ हायि ॥ (२)॥

आऽ५भी। षुणा३: सा३खीनाम् । आ । विता जरायि तॄ । णाम् । औ२३ हो हायि । शता२३म्भवा । सियौहो३ हुम्मा२ । ताऽ२ यो३ऽ५हायि ॥ (३)॥

—साम० उत्तरार्चिके । अध्याये १ । खं० ३ । मं० १, २, ३॥

यह महावामदेव्यगान होने के पश्चात् गृहस्थ स्त्रीपुरुष कार्यकर्त्ता सद्धर्मी लोकप्रिय परोपकारी सज्जन विद्वान् वा त्यागी पक्षपात रहित संन्यासी, जो सदा विद्या की वृद्धि और सब के कल्याणार्थ वर्तनेवाले हों उनको नमस्कार, आसन, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, धन आदि के दान से उत्तम प्रकार से यथासामर्थ्य सत्कार करें । पश्चात् जो कोई देखने ही के लिये आये हों, उन को भी सत्कारपूर्वक विदा कर दें।

अथवा जो संस्कार-क्रिया को देखना चाहें, वे पृथक्-पृथक् मौन करके बैठे रहें, कोई बातचीत हल्ला-गुल्ला न करने पावें । सब लोग ध्यानावस्थित प्रसन्नवदन रहें । विशेष कर्मकर्त्ता और कर्म करानेवाले शान्ति धीरज और विचारपूर्वक क्रम से कर्म करें और करावें ।

यह सामान्यविधि अर्थात् सब संस्कारों में कर्त्तव्य है ॥

॥ इति सामान्यप्रकरणम् ॥

[१]

अथ गर्भाधानविधिं वक्ष्यामः

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।

—मनुस्मृति–द्वितीयाध्याये, श्लोकः १६ ॥

अर्थ—मनुष्यों के शरीर और आत्मा के उत्तम होने के लिये निषेक अर्थात् गर्भाधान से लेके श्मशानान्त अर्थात् अन्त्येष्टि=मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर का विधिपूर्वक दाह करने पर्यन्त **१६ संस्कार** होते हैं ।

शरीर का आरम्भ गर्भाधान और शरीर का अन्त भस्म कर देने तक सोलह प्रकार के **उत्तम संस्कार** करने होते हैं । उनमें से प्रथम गर्भाधान–संस्कार है ।

गर्भाधान उस को कहते हैं कि जो **"गर्भस्याऽऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येन वा कर्मणा, तद् गर्भाधानम् ।"** गर्भ का धारण, अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिस से होता है । उसी को गर्भाधान संस्कार कहते हैं ।

जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उत्तम होते हैं । वैसे उत्तम, बलवान् स्त्री–पुरुषों से सन्तान भी उत्तम होते हैं। इस से पूर्ण युवावस्था यथावत् ब्रह्मचर्य का पालन और विद्याभ्यास करके, अर्थात् न्यून से न्यून १६ वर्ष की कन्या और २५ पच्चीस वर्ष का पुरुष अवश्य हो और इस से अधिक वयवाले होने से अधिक उत्तमता होती है, क्योंकि विना सोलहवें वर्ष के गर्भाशय में बालक के शरीर को यथावत् बढ़ने के लिये अवकाश और गर्भ के धारण–पोषण का सामर्थ्य कभी नहीं होता और २५ पच्चीस वर्ष के विना पुरुष का वीर्य भी उत्तम नहीं होता । इस में यह प्रमाण है—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥१॥

—सुश्रुते सूत्रस्थाने, अ० ३५।१०॥

ऊनषोडशवर्षायाम् अप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥२॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥३॥

—सुश्रुते सूत्रस्थाने, अ० १०।४७–४८॥

ये सुश्रुत के श्लोक हैं । शरीर की उन्नति वा अवनति का विधि जैसा वैद्यकशास्त्र में है, वैसा अन्यत्र नहीं । उसका मूल विधान आगे वेदारम्भ में लिखा जायेगा, अर्थात् किस-किस वर्ष में कौन-कौन धातु किस-किस प्रकार का कच्चा वा पक्का, वृद्धि वा क्षय को प्राप्त होता है, यह सब वैद्यकशास्त्र में विधान है, इसलिए गर्भाधानादि संस्कारों के करने में वैद्यकशास्त्र का आश्रय विशेष लेना चाहिये ।

अब देखिये सुश्रुतकार परम वैद्य कि जिन का प्रमाण सब विद्वान् लोग मानते हैं, वे विवाह और गर्भाधान का समय न्यून से न्यून १६ सोलह वर्ष की कन्या और २५ पच्चीस वर्ष का पुरुष अवश्य होवे, यह लिखते हैं ।

जितना सामर्थ्य २५ पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना ही सामर्थ्य १६ सोलहवें वर्ष में कन्या के शरीर में हो जाता है। इसलिए वैद्य लोग पूर्वोक्त अवस्था में दोनों को समवीर्य अर्थात् तुल्य सामर्थ्यवाले जानें ।।१।।

सोलह वर्ष से न्यून अवस्था की स्त्री में २५ पच्चीस वर्ष से कम अवस्था का पुरुष यदि गर्भाधान करता है, तो वह गर्भ उदर में ही बिगड़ जाता है ।।२।।

और जो उत्पन्न भी हो तो अधिक नहीं जीवे, अथवा कदाचित् जीवे भी तो उसके अत्यन्त दुर्बल शरीर और इन्द्रिय हों । इसलिये अत्यन्त बाला अर्थात् सोलह वर्ष की अवस्था से कम अवस्था की स्त्री में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिए ।।३।।

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परि-हाणिश्चेति । आषोडशाद् वृद्धिराचतुर्विंशतेर्यौवनमाचत्वारिंशतः सम्पूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

अर्थ–सोलहवें वर्ष से आगे मनुष्य के शरीर के सब धातुओं की वृद्धि और पच्चीसवें वर्ष से युवावस्था का आरम्भ, चालीसवें वर्ष में युवावस्था की पूर्णता अर्थात् सब धातुओं की पूर्ण पुष्टि, और उस से आगे किञ्चित्-किञ्चित् धातु वीर्य की हानि होती है, अर्थात् ४० चालीसवें वर्ष सब अवयव पूर्ण हो जाते हैं । पुनः खान-पान से जो उत्पन्न वीर्य धातु होता है, वह कुछ-कुछ क्षीण होने लगता है ।

इस से यह सिद्ध होता है कि यदि शीघ्र विवाह करना चाहें तो कन्या १६ वर्ष की और पुरुष २५ पच्चीस वर्ष का अवश्य होना चाहिये। मध्यम समय कन्या का २० वर्ष पर्यन्त और पुरुष का ४० चालीसवां

वर्ष, और उत्तम समय कन्या का २४ चौबीस वर्ष और पुरुष का ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त का है ।

जो अपने कुल की उत्तमता, उत्तम सन्तान, दीर्घायु, सुशील, बुद्धिबल पराक्रमयुक्त, विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें, वे १६ सोलहवें वर्ष से पूर्व कन्या और २५ पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें । यही सब सुधार का सुधार, सब सौभाग्यों का सौभाग्य, और सब उन्नतियों की उन्नति करनेवाला कर्म है कि इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रखके अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिस से उत्तम सन्तान होवें ।

ऋतुदान का काल

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतस्सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥१॥
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्भिगर्हितैः ॥२॥
तासामाद्याश्चतस्त्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥३॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम् ॥४॥
पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥५॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥६॥

—मनुस्मृतौ अ० ३ ॥

अर्थ—मनु आदि महर्षियों ने ऋतुदान के समय का निश्चय इस प्रकार से किया है कि—

सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे, और अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रखे । वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़ के अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहे । जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है, जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती, वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो, तब पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के १६ सोलह दिनों में—**पौर्णमासी, अमावस्या, चतुर्दशी** वा **अष्टमी** आवे, उस को छोड़ देवे । इन में स्त्री–पुरुष रतिक्रिया कभी न करें ॥१॥

स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल १६ सोलह रात्रि का है, अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके १६ सोलहवें दिन तक ऋतुसमय है । उनमें से प्रथम की चार रात्रि अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से लेके चार दिन निन्दित हैं । प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे । अर्थात् **उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे । न वह स्त्री कुछ काम करे, किन्तु एकान्त में बैठी रहे ।** क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है । रजः अर्थात् स्त्री के शरीर से एक प्रकार का विकृत उष्ण रुधिर, जैसा कि फोड़े में से पीव वा रुधिर निकलता है, वैसा है ॥२॥

और जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं, वैसे **ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित हैं ।** और बाकी रहीं दश रात्रि, सो ऋतुदान देने में श्रेष्ठ हैं ॥३॥

जिन को पुत्र की इच्छा हो, वे **छठी आठवीं दशवीं बारहवीं चौदहवीं और सोलहवीं ये छः रात्रि ऋतुदान में उत्तम जानें, परन्तु इनमें भी उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ हैं ।** और जिनको कन्या की इच्छा हो, वे पांचवीं सातवीं नववीं और पन्द्रहवीं ये चार रात्रि उत्तम समझें* । **इससे पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतुदान देवे** ॥४॥

पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्त्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा बन्ध्या स्त्री, क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा रहकर गिर जाना होता है ॥५॥

जो पूर्व निन्दित ८ आठ रात्रि कह आये हैं, उन में जो स्त्री का संग छोड़ देता है, वह गृहाश्रम में वसता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहाता है ॥६॥

उपनिषदि गर्भलम्भनम् ॥

—यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है ॥

जैसा उपनिषद् में गर्भस्थापन-विधि लिखा है, वैसा करना चाहिए, अर्थात् पूर्वोक्त समय विवाह करके जैसा कि १६ सोलहवें और २५ पच्चीसवें वर्ष विवाह करके ऋतुदान लिखा है, वही उपनिषत् का विधान है ।

अथ गर्भाधानꣳ स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वꣳ स्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा आदित्यं गर्भमिति ॥

—यह पारस्करगृह्यसूत्र का वचन है ॥

ऐसा ही गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रों में भी विधान है ।

* रात्रिगणना इसलिए की है कि दिन में ऋतुदान का निषेध है ।

इसके अनन्तर स्त्री जब रजस्वला होकर **चौथे दिन के उपरान्त पांचवें दिन स्नान कर रज-रोगरहित हो,** उसी दिन **(आदित्यं गर्भमिति)** इत्यादि मन्त्रों से जैसा जिस रात्रि में गर्भस्थापन करने की इच्छा हो, उससे पूर्व दिन में सुगन्धादि पदार्थों सहित **पूर्व सामान्यप्रकरण के लिखित प्रमाणे हवन करके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देनी। यहां पत्नी पति के वाम-भाग में बैठे, और पति वेदी के पश्चिमाभिमुख पूर्व-दक्षिण वा उत्तर दिशा में यथाभीष्ट मुख करके बैठे, और ऋत्विज भी चारों दिशाओं में यथामुख बैठें-**

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥२॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥३॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥४॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः इदन्न मम ॥५॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥६॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥७॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥८॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥९॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः इदन्न मम ॥१०॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥११॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥१२॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥१३॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥१४॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्यास्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः इदन्न मम ॥१५॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१६॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥१७॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥१८॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥१९॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्यास्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा ॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः इदन्न मम ॥२०॥

इन बीस मन्त्रों से बीस आहुति देनी* । और बीस आहुति करने से यत्किञ्चित् घृत बचे, वह कांसे के पात्र में ढांक के रख देवे, इसके पश्चात् भात की आहुति देने के लिये यह विधि करना । अर्थात् एक चांदी वा **कांसे के पात्र में भात रखके उसमें घी दूध और शक्कर मिलाके कुछ** थोड़ी देर रखके जब घृत आदि भात में एकरस हो जायें, पश्चात् नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक आहुति अग्नि में देवे । और स्रुवा में का शेष आगे धरे हुए कांसे के उदकपात्र में छोड़ता जावे-

ओम् अग्नये पवमानाय स्वाहा ॥
इदमग्नये पवमानाय इदन्न मम ॥१॥
ओम् अग्नये पावकाय स्वाहा ॥
इदमग्नये पावकाय इदन्न मम ॥२॥
ओम् अग्नये शुचये स्वाहा ॥
इदमग्नये शुचये इदन्न मम ॥३॥
ओम् अदित्यै स्वाहा ॥ इदमदित्यै इदन्न मम ॥४॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥५॥

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा ॥
इदमग्नये स्विष्टकृते इदन्न मम ॥६॥

इन छः मन्त्रों से उस भात की आहुति देवें । तत्पश्चात् पूर्व सामान्यप्रकरणोक्त २२-२३ पृष्ठलिखित आठ मन्त्रों से **अष्टाज्याहुति**

---

* ये बीस आहुति देते समय वधू अपने दक्षिण हाथ से वर के दक्षिण स्कन्ध पर स्पर्श कर रक्खे ।

देनी । उन ८ आठ मन्त्रों से ८ आठ तथा निम्नलिखित मन्त्रों से भी आज्याहुति देवें–

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते स्वाहा ॥१॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा स्वाहा ॥२॥
हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना ।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥३॥

–ऋ० मं० १० । सू० १८४॥

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम् । गर्भो जरायुणावृतऽ उल्वं जहाति जन्मना । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धसऽ-इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा ॥४॥

यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् ॥ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् स्वाहा ॥५॥ –यजुर्वेदे ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥६॥
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥७॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥८॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा ॥९॥

–अथर्व० कां० ६। सू० १७ ॥

इन ९ मन्त्रों से नव **आज्य** और मोहनभोग की आहुति देके, नीचे लिखे मन्त्रों से भी **चार घृताहुति** देवें–

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥२॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय इदन्न मम ॥३॥

ओम् अग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः इदन्न मम ॥४॥

पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से घृत की दो आहुति देनी—

ओम् अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणोऽत्यरीरिचं देवा गातुविदः स्वाहा ॥ इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः इदन्न मम ॥१॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥२॥

इन कर्म और आहुतियों के पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे (**ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं०**) इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति घृत की देवें ।

जो इन मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे धरे हुए काँसे के उदकपात्र में इकट्ठा करते गए हों, जब आहुति हो चुकें, **तब उन आहुतियों के शेष घृत को वधू लेके स्नानघर में जाकर उस घी का पग के नख से लेके शिरपर्यन्त सब अंगों पर मर्दन करके स्नान करे। तत्पश्चात् शुद्ध वस्त्र से शरीर पोंछ, शुद्ध वस्त्र धारण करके कुण्ड के समीप आवे। तब दोनों वधू-वर कुण्ड की प्रदक्षिणा करके सूर्य का दर्शन करें।** उस समय—

ओम् आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् । परिवृङ्धि हरसा माभिमंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥१॥

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् । अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥२॥

जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति । पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥३॥

चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः। चक्षुर्धाता दधातु नः॥४

चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः। सं चेदं वि च पश्येम॥५

सुसंदृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य । वि पश्येम नृचक्षसः ॥६॥

इन मन्त्रों से परमेश्वर का उपस्थान करके, वधू—

ओम् [१]अमुकगोत्रा शुभदा अमुक[२]दा अहं भो भवन्तमभिवादयामि ।

ऐसा वाक्य बोलके अपने पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे।

---

१. इस ठिकाने वर के गोत्र अथवा वर के कुल का नामोच्चारण करे।
२. इस ठिकाने वधू अपना नाम उच्चारण करे ।

तत्पश्चात् स्वपति के पिता पितामहादि और जो वहां अन्य माननीय पुरुष तथा पति की माता तथा अन्य कुटुम्बी और सम्बन्धियों की वृद्ध स्त्रियां हों, उन को भी इसी प्रकार वन्दन करे ।

इस प्रमाणे वधू वर के गोत्र की हुए अर्थात् वधू पत्नीत्व और वर पतित्व को प्राप्त हुए, पश्चात् दोनों पति-पत्नी शुभासन पर पूर्वाभिमुख वेदी के पश्चिम भाग में बैठके वामदेव्यगान करें ।

तत्पश्चात् यथोक्त[1] भोजन दोनों जने करें । और पुरोहितादि सब मण्डली को सम्मानार्थ यथाशक्ति भोजन कराके आदर-सत्कारपूर्वक सब को विदा करें ।

---

१. उत्तम सन्तान करने का मुख्य हेतु यथोक्त वधू वर के आहार पर निर्भर है । इसलिये पति-पत्नी अपने शरीर-आत्मा की पुष्टि के लिए बल और बुद्धि आदि की वर्द्धक सर्वौषधि का सेवन करें । सर्वौषधि ये हैं-

दो खण्ड आँबाहलदी, दूसरी खाने की हल्दी, चन्दन, मुरा (यह नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), कुष्ठ, जटामांसी, मोरबेल (यह भी नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), शिलाजित्, कपूर, मुस्ता, भद्रमोथ ।

इन सब ओषिधियों का चूर्ण करके, सब समभाग लेके उदुम्बर के काष्ठपात्र में गाय के दूध के साथ मिला उन का दही जमा और उदुम्बर ही के लकड़े की मंथनी से मंथन करके उस में से मक्खन निकाल, उस को ताय, घृत करके उस में सुगन्धित द्रव्य केशर कस्तूरी, जायफल, इलायची, जावित्री मिलाके अर्थात् **सेर-भर दूध में छटांक भर पूर्वोक्त सर्वौषधि मिला सिद्धकर घी हुए** पश्चात् एक सेर में एक रत्ती कस्तूरी और एक मासा केशर और एक-एक मासा जायफलादि भी मिलाके नित्य प्रातःकाल उस घी में से ३२ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और पृष्ठ ३२ में लिखे हुए (विष्णुर्योनिं०) इत्यादि ७ सात मन्त्रों के अन्त में स्वाहा शब्द का उच्चारण करके जिस रात्रि में गर्भस्थापन क्रिया करनी हो, उसके दिन में होम करके, **उसी घी को दोनों जने खीर अथवा भात के साथ मिलाके यथारुचि भोजन करें ।**

इस प्रकार गर्भस्थापन करें तो सुशील, विद्वान्, दीर्घायु, तेजस्वी, सुदृढ़ और **नीरोग पुत्र उत्पन्न होवे** और **यदि कन्या की इच्छा हो तो जल में चावल पका पूर्वोक्त प्रकार घृत, गूलर के एक पात्र में जमाए हुए दही के साथ भोजन करने से उत्तम गुणयुक्त कन्या भी होवे,** क्योंकि-

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।"

-यह छान्दोग्य० का वचन है ।

अर्थात् शुद्ध आहार, जो कि मद्यमांसादिरहित घृत, दुग्धादि, चावल, गेहूं आदि के करने से अन्तःकरण की शुद्धि, बल, पुरुषार्थ, आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है । इसलिए पूर्ण युवावस्था में विवाह कर इस प्रकार विधि कर प्रेमपूर्वक गर्भाधान करें तो सन्तान और कुल नित्यप्रति उत्कृष्टता को प्राप्त होते जायें । जब रजस्वला होने के समय में १२-१३ दिन शेष रहें, तब **शुक्ल पक्ष में १२ दिन तक पूर्वोक्त घृत मिलाके इसी खीर का भोजन करके १२ दिन का व्रत भी करें । और मिताहारी होकर**

इसके पश्चात् रात्रि में नियत समय पर जब दोनों का शरीर आरोग्य, अत्यन्त प्रसन्न और दोनों में अत्यन्त प्रेम बढ़ा हो, उस समय गर्भाधान क्रिया करनी । गर्भाधान क्रिया का समय प्रहर रात्रि के गये पश्चात् प्रहर रात्रि रहे तक है । जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे, तब दोनों स्थिरशरीर, प्रसन्नवदन, मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिकादि, सब सूधा शरीर रखें । वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे । जब वीर्य स्त्री के शरीर में प्राप्त हो, उस समय अपना पायु मूलेन्द्रिय और योनीन्द्रिय को ऊपर संकोच और वीर्य को खैंचकर स्त्री गर्भाशय में स्थित करे। तत्पश्चात् थोड़ा ठहर के स्नान करे । यदि शीतकाल हो तो **प्रथम केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची डाल गर्म कर रखे हुए शीतल दूध का यथेष्ट पान करके** पश्चात् पृथक्–पृथक् शयन करें। यदि स्त्रीपुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाये कि गर्भ स्थिर हो गया तो उसके दूसरे दिन, और जो गर्भ रहे का दृढ़ निश्चय न हो तो एक महीने के पश्चात् रजस्वला होने के समय स्त्री रजस्वला न हो तो निश्चित जानना कि गर्भ स्थित हो गया है ।

अर्थात् दूसरे दिन वा दूसरे महीने के आरम्भ में निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें[१]–

ऋतु–समय में पूर्वोक्त रीति से गर्भाधान क्रिया करें तो अत्युत्तम सन्तान होवे। जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है, वैसे सन्तान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है । इस पर मनुष्य लोग बहुत ध्यान देवें । क्योंकि इस के न होने से कुल की हानि, नीचता, और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है ।

१. यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जायें अर्थात् दो वार दो महीनों में गर्भाधान क्रिया निष्फल हो जाय, गर्भस्थिति न होवे तो तीसरे महीने में ऋतुकाल समय जब आवे, तब **पुष्यनक्षत्रयुक्त ऋतुकाल दिवस में प्रथम प्रातःकाल उपस्थित होवे, तब प्रथम प्रसूता गाय का दही दो मासा और यव के दाणों को सेक के पीसके दो मासा लेके इन दोनों को एकत्र करके, पत्नी के हाथ में देके** उस से पति पूछे–**''किं पिबसि''** ? इस प्रकार तीन वार पूछे, और स्त्री भी अपने पति को **''पुंसवनम्''** इस वाक्य को तीन वार बोलके उत्तर देवे । और उस का प्राशन करे । इसी रीति से पुनः–पुनः तीन वार विधि करना। तत्पश्चात् **सङ्खाहूली व भटकटाई ओषधि को जल में महीन पीसके उस का रस कपड़े में छानके पति पत्नी के दाहिने नाक के छिद्र में सिञ्चन करे** । और पति–

ओम् इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती ।
अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम् ॥

इस मन्त्र से जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रार्थना करके यथोक्त ऋतुदान विधि करें । यह सूत्रकार का मत है ।

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः ।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः स्वाहा ॥१॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा स्वाहा ॥२॥
दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि स्वाहा ॥३॥

—ऋ० मं० ५। सू० ७८ । मं० ७–९ ॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह ।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽ एजति ।
एवायं दशमास्योऽ अस्रज्जरायुणा सह स्वाहा ॥१॥
यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी ।
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहा ॥२॥

—यजुः० अ० ८। मं० २८, २९ ॥

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे स्वाहा ॥१॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः ।
पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताꣳस्वाहा ॥२॥

—सामवेदे ॥

इन मन्त्रों से आहुति देकर, पूर्वलिखित सामान्यप्रकरण की शान्त्याहुति देके, पुनः २३ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे पूर्णाहुति देवें । पुनः स्त्री के भोजन–छादन का सुनियम करे । कोई मादक मद्य आदि, रेचक हरीतकी आदि, क्षार अतिलवणादि, अत्यम्ल अर्थात् अधिक खटाई, रूक्ष चणे आदि, तीक्ष्ण अधिक लालमिर्ची आदि स्त्री कभी न खावे । किन्तु घृत, दुग्ध, मिष्ट, सोमलता अर्थात् गुडूच्यादि ओषधि, चावल, मिष्ट दधि, गेहूं, उर्द, मूंग, तूअर आदि अन्न, और पुष्टिकारक शाक खावें। उस में ऋतु–ऋतु के मसाले—गर्मी में ठण्डे सफेद इलायची आदि, और सर्दी में केशर कस्तूरी आदि डालकर खाया करें । युक्ताहार विहार सदा किया करें । दूध में सुंठी और ब्राह्मी ओषधि का सेवन स्त्री विशेष किया करे, जिस से सन्तान अतिबुद्धिमान् रोगरहित शुभ गुण कर्म स्वभाववाला होवे ॥

॥ इति गर्भाधानविधिः समाप्तः ॥

[१]

अथ पुंसवनम्

'पुंसवन' संस्कार का समय गर्भस्थिति-ज्ञान हुए समय से दूसरे वा तीसरे महीने में है। उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिये, जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे। यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जावें, तब तक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे। भोजन-छादन शयन-जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे, जिस से वीर्य स्थिर रहे, और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे।

अत्र प्रमाणानि

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे स्वाहा ॥१॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः ।
पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताम् ॥२॥

—सामवेदे ॥

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम् ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥१॥
पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥२॥
प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥३॥

—अथर्व० का० ६। सू० ११॥

इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिये।

इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकाया-मजीतामोषधीं नस्तः करोति ॥१॥

प्रजावज्जीवपुत्राभ्यां हैके ॥२॥

गर्भ के दूसरे वा तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेके स्त्री के दक्षिण नासापुट से सुंघावे। और कुछ अन्य

पुष्ट अर्थात् गुडूच जो गिलोय वा ब्राह्मी ओषधि खिलावे ।

ऐसा ही पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है—

अथ पुꣳसवनं पुरा स्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा ॥

इस के अनन्तर 'पुंसवन' उस को कहते हैं, जो पूर्व ऋतुदान देकर गर्भस्थिति से दूसरे वा तीसरे महीने में पुंसवन संस्कार किया जाता है। इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में भी लिखा है ।

अथ क्रियारम्भ—पृष्ठ ४ से ११वें पृष्ठ के शान्तिकरण पर्यन्त कहे प्रमाणे (विश्वानि देव०) इत्यादि चारों वेदों के मन्त्रों से यजमान और पुरोहितादि ईश्वरोपासना करें । और जितने पुरुष वहां उपस्थित हों, वे भी परमेश्वरोपासना में चित्त लगावें और पृष्ठ ७-९ में कहे प्रमाणे स्वस्तिवाचन तथा पृष्ठ ९-११ में लिखे प्रमाणे शान्तिकरण करके, पृष्ठ १२ में लिखे प्रमाणे यज्ञदेश, यज्ञशाला तथा पृष्ठ १२-१३ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसमिधा, होम के द्रव्य और स्थालीपाक आदि करके और पृष्ठ १८-२० में लिखे प्रमाणे **(अयन्त इध्म०)** इत्यादि, **(ओम् अदिते०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रोक्त कर्म और **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार तथा **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २१ में **(ओं प्रजापतये स्वाहा)**, पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं यदस्य कर्मणो०)** दो आहुति देकर नीचे लिखे हुए दोनों मन्त्रों से २ दो आहुति घृत की देवें—

ओम् आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा ॥१॥

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्।
तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥२॥

इन दोनों मन्त्रों को बोलके दो आहुति किये पश्चात् एकान्त में पत्नी के हृदय पर हाथ धरके यह निम्नलिखित मन्त्र पति बोले—

ओं यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ ।
मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं माहं पौत्रमघं नियाम् ॥

तत्पश्चात् पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे सामवेद आर्चिक और महावामदेव्यगान गाके जो-जो पुरुष वा स्त्री संस्कार-समय पर आये हों, उन को विदा कर दे ।

पुनः **वटवृक्ष के कोमल कूपल और गिलोय को महीन बांट, कपड़े में छान, गर्भिणी स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघावे।** तत्पश्चात्—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

—यजुः० अ० १३ । मं० ४॥

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥२॥

—यजुः०अ० ३१। मं० १७॥

इन २ दो मन्त्रों को बोलके पति अपनी गर्भिणी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ धरके यह मन्त्र बोले—

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ।
स्तोमऽ आत्मा छन्दाᳩस्यङ्गानि यजूᳩषि नाम ।
साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः ।
सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत ॥

—यजुः० अ० १२ । मं० ४ ॥

इस के पश्चात् स्त्री सुनियम युक्ताहार–विहार करे । **विशेषकर गिलोय ब्राह्मी ओषधि और सुंठी को दूध के साथ थोड़ी–थोड़ी खाया करे** और **अधिक शयन और अधिक भाषण, अधिक खारा, खट्टा, तीखा, कड़वा, रेचक हरड़े आदि न खावे,** सूक्ष्म आहार करे । क्रोध, द्वेष, लोभादि दोषों में न फंसे । चित्त को सदा प्रसन्न रखे—इत्यादि शुभाचरण करे ॥

॥ इति पुंसवनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[३]

अथ सीमन्तोन्नयनम्

अब तीसरा संस्कार 'सीमन्तोनयन' कहते हैं। जिससे गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट आरोग्य गर्भ स्थिर उत्कृष्ट होवे, और प्रतिदिन बढ़ता जावे। इस में आगे प्रमाण लिखते हैं—

चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोनयनम् ॥१॥

आपूर्यमाणपक्षे यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात् ॥२॥

अथास्यै युग्मेन शलालुग्रप्सेन त्र्येण्या च शलल्या त्रिभिश्च कुशपिञ्जूलैरूर्ध्वं सीमन्तं व्यूहति भूर्भुवः स्वरोमिति त्रिः चतुर्वा॥

—यह आश्वलायनगृह्यसूत्र ॥

पुंसवनवत् प्रथमे गर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा ॥

—यह पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण ॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्र में भी लिखा है।

अर्थ—गर्भमास से चौथे महीने में शुक्लपक्ष में जिस दिन **मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो,** उसी दिन सीमन्तोनयन संस्कार करें। और पुंसवन संस्कार के तुल्य **छठे आठवें महीने में पूर्वोक्त पक्ष नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा के दिन सीमन्तोनयन संस्कार करें।**

अथ विधि—इस में प्रथम २० पृष्ठ तक का विधि करके (अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे वेदी से पूर्वादि दिशाओं में जल सेचन करके—

ओं देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचन्नः स्वदतु स्वाहा ॥ —य०अ० ३०। मं० ७॥

इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल-सेचन करके आघारावाज्य-भागाहुति ४ चार, और व्याहृति आहुति ४ चार—दोनों मिलके ८ आठ आहुति पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे करके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥

अर्थात् **चावल, तिल, मूंग** इन तीनों को सम भाग लेके—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥

अर्थात् धोके इन की खिचड़ी बना, उस में पुष्कल घी डालके

निम्नलिखित मन्त्रों से ८ आठ आहुति देवें–

ओं धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् । वयं देवस्य धीमहि सुमतिं वाजिनीवती स्वाहा ॥ इदं धात्रे इदन्न मम ॥१॥

ओं धाता प्रजानामुत राय ईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजान । धाता कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे धात्र इद्धव्यं घृतवज्जुहोत स्वाहा ॥ इदं धात्रे इदन्न मम ॥२॥

ओं राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना । सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यं स्वाहा ॥ इदं राकायै इदन्न मम ॥३॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा स्वाहा ॥ इदं राकायै इदन्न मम ॥४॥ –ऋ०मं० २। सू० ३२ । मं० ४, ५॥

नेजमेष परा पत सुपुत्रः पुनरा पत ।
अस्यै मे पुत्रकामायै गर्भमा धेहि यः पुमान्त्स्वाहा ॥५॥
यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमा दधे ।
एवं त गर्भमा धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥६॥
विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम् ।
पुमांसं पुत्राना धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥७॥

इन ७ सात मन्त्रों से **खिचड़ी की सात आहुति** देके, पुनः **(भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्व०)** पृष्ठ २२ में लिखित इस से एक, सब मिलाके ८ आठ आहुति देवें । और पृष्ठ २२ में लिखे प्रमाणे **(ओं प्रजापतये०)** मन्त्र से एक भात की, और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं यदस्य कर्मणो०)** मन्त्र से एक खिचड़ी की आहुति देवें । तत्पश्चात् **(ओं त्वन्नो अग्ने०)** पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे ८ आठ घृत की आहुति और **(ओं भूरग्नये०)** पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति मन्त्रों से चार आज्याहुति देकर पति और पत्नी एकान्त में जाके उत्तमासन पर बैठ पति पत्नी के पश्चात्=पृष्ठ की ओर बैठ–

ओं सुमित्रिया नऽ आपऽ ओषधयः सन्तु ।
दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः ॥१॥
–य०अ० ६। मं० २२॥

मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम् ।
कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥२॥

—य०अ० ७। मं० २४ ॥

ओम् अयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्ज्जीव फलिनी भव ।
पर्णं वनस्पतेऽनु त्वाऽनु त्वा सूयताꣳ रयिः ॥३॥
ओं येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय ।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि ॥४॥
ओं राकामहꣳ सुहवाꣳ सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरꣳ शतदायमुक्थ्यम् ॥५॥
ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषꣳ सुभगे रराणा ॥६॥
किं पश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥७॥

इन मन्त्रों को पढ़के पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगन्ध तेल डाल, कंघे से सुधार, हाथ में उदुम्बर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका वा कुशा की मृदु छीपी वा शाही पशु के कांटे से अपनी पत्नी के केशों को स्वच्छ कर, पट्टी निकाल और पीछे की ओर जूड़ा सुन्दर बांधकर यज्ञशाला में आवें । उस समय वीणा आदि बाजे बजवावें । तत्पश्चात् पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे सामवेद का गान करें । पश्चात्—

ओं सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः ।
अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यम् असौ* ॥

आरम्भ में इस मन्त्र का गान करके, पश्चात् अन्य मन्त्रों का गान करें।

तत्पश्चात् पूर्व आहुतियों के देने से बची हुई खिचड़ी में पुष्कल घृत डालके गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिबिम्ब उस घी में देखे। उस समय पति स्त्री से पूछे—"**किं पश्यसि**"? स्त्री उत्तर देवे—"**प्रजां पश्यामि**" ।

तत्पश्चात् एकान्त में वृद्ध कुलीन सौभाग्यवती पुत्रवती गर्भिणी अपने कुल की और ब्राह्मणों की स्त्रियां बैठें । प्रसन्नवदन और प्रसन्नता की बातें करें । और वह गर्भिणी स्त्री उस खिचड़ी को खावे । और वे वृद्ध समीप बैठी हुई उत्तम स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें—

ओं वीरसूस्त्वं भव, जीवसूस्त्वं भव, जीवपत्नी त्वं भव ॥

ऐसे शुभ माङ्गलिक वचन बोलें। तत्पश्चात् संस्कार में आये हुए मनुष्यों का यथायोग्य सत्कार करके स्त्री स्त्रियों और पुरुष पुरुषों को विदा करें ॥

॥ इति सीमन्तोन्नयनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

---

* यहां किसी नदी का नामोच्चारण करें ।

[१]

अथ जातकर्मसंस्कारविधिः

इस का समय और प्रमाण और कर्मविधि इस प्रकार करें

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति ॥

इत्यादि पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है ।

इसी प्रकार आश्वलायन, गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रों में भी लिखा है ।

जब प्रसव होने का समय आवे, तब निम्नलिखित मन्त्र से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करे—

ओम् एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह ।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति ।
एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह ॥१॥

—यजुः० अ० ८। मं० २८॥

इस से मार्जन करने के पश्चात्—

ओम् अवैतु पृश्निशेवलꣳ शुने जराय्वत्तवे ।
नैव माꣳसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमव जरायु पद्यताम् ॥

इस मन्त्र का जप करके पुनः मार्जन करे ।

कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्ययेन प्राशयेत् ॥

जब पुत्र का जन्म होवे, तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिका, कान, आंख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर कोमल वस्त्र से पोंछ, शुद्ध कर, पिता के गोद में बालक को देवें । पिता जहां वायु और शीत का प्रवेश न हो, वहां बैठके एक बीता भर नाड़ी को छोड़, ऊपर सूत से बांधके, उस बन्धन के ऊपर से नाड़ीछेदन करके किञ्चित् उष्ण जल से बालक को स्नान करा, शुद्ध वस्त्र से पोंछ, नवीन शुद्ध वस्त्र पहिना जो प्रसूता–घर के बाहर पूर्वोक्त प्रकार कुण्ड कर रखा हो अथवा तांबे के कुण्ड में समिधा पूर्वलिखित प्रमाणे चयन कर पूर्वोक्त सामान्यविध्युक्त पृष्ठ

१७-१९ में कहे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान करके, अग्नि को प्रदीप्त करके, सुगन्धित घृतादि वेदी के पास रखके, हाथ-पग धोके, एक पीठासन अर्थात् शुभासन पुरोहित* के लिये कुण्ड के दक्षिण भाग में रखे, वह उस पर उत्तराभिमुख बैठे और यजमान अर्थात् बालक का पिता हाथ पग धोके वेदी के पश्चिम भाग में आसन बिछा, उस पर उपवस्त्र ओढ़के पूर्वाभिमुख बैठे तथा सब सामग्री अपने और पुरोहित के पास रखके पुरोहित पद के स्वीकार के लिये बोले-

ओम् आ वसोः सदने सीद ॥

तत्पश्चात् पुरोहित-**ओं सीदामि ॥**

बोलके आसन पर बैठके, पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे **अयं त इध्म०** आदि चार मन्त्रों से वेदी में चन्दन की समिदाधान करे और प्रदीप्त समिधा पर पूर्वोक्त सिद्ध किये घी की पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और **व्याहृति आहुति** ४ चार दोनों मिलके ८ आठ आज्याहुति देनी । तत्पश्चात्-

ओं या तिरश्ची निपद्यते अहं विधरणी इति । तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहम् । सꣳराधिन्यै देव्यै देष्ट्र्यै स्वाहा ॥ इदं संराधिन्यै इदन्न मम ॥१॥

ओं विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्धाता पुनराहरत् । परेहि त्वं विपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम स्वाहा ॥ इदं धात्रे इदन्न मम ॥२॥

इन दोनों मन्त्रों से २ दो आज्याहुति करके, पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे **वामदेव्य गान** करके, ४-११ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे **ईश्वरोपासना** करें ।

तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बरोबर मिलाके, जो प्रथम सोने की शलाका कर रखी हो, उस से बालक की जीभ पर **''ओ३म्''** यह अक्षर लिखके उस के दक्षिण कान में **''वेदोऽसीति'**-'तेरा गुप्त नाम वेद है' ऐसा सुनाके पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को **नीचे लिखे मन्त्र से** थोड़ा-थोड़ा चटावे-

ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेदं सवित्रा प्रसूतं मघोनाम्। आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥१॥

ओं भूस्त्वयि दधामि ॥२॥

ओं भुवस्त्वयि दधामि ॥३॥

---

* पुरोहित=धर्मात्मा शास्त्रोक्त विधि को पूर्णरीति से जाननेहारा, विद्वान्, सद्धर्मी, कुलीन, निर्व्यसनी, सुशील, वेदप्रिय, पूजनीय, सर्वोपकारी गृहस्थ की 'पुरोहित' संज्ञा है ।

ओं स्वस्त्वयि दधामि ॥४॥
ओं भूर्भुवः स्वस्सर्वं त्वयि दधामि ॥५॥
ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषं स्वाहा ॥६॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से **छह वार घृत-मधु प्राशन कराके** तत्पश्चात् चावल और जव को शुद्ध कर पानी से पीस, वस्त्र से छान, एक पात्र में रखके हाथ के अंगूठा और अनामिका से थोड़ा सा लेके–

ओम् इदमाज्यमिदमन्नमिदमायुरिदममृतम् ॥

इस मन्त्र को बोलके बालक के मुख में एक विन्दु छोड़ देवे। यह एक गोभिलीय गृह्यसूत्र का मत है, सब का नहीं ।

पश्चात् बालक का पिता बालक के दक्षिण कान में मुख लगाके निम्नलिखित मन्त्र बोले–

ओं मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती ।
मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥१॥
ओम् अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन
त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥२॥
ओं सोम आयुष्मान्त्स ओषधीभिरायुष्माँस्तेन० * **॥३॥**
ओं ब्रह्माऽऽयुष्मत् तद् ब्राह्मणैरायुष्मत् तेन० ॥४॥
ओं देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन० ॥५॥
ओम् ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन० ॥६॥
ओं पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन० ॥७॥
ओं यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्माँस्तेन० ॥८॥
ओं समुद्र आयुष्मान्त्स स्रवन्तीभिरायुष्माँस्तेन
त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥९॥

इन नव मन्त्रों का जप करे । इसी प्रकार बांयें कान पर मुख धर ये ही नव मन्त्र पुनः जपे ।

इस के पीछे बालक के कन्धों पर कोमल स्पर्श से हाथ धर अर्थात् बालक के स्कन्धों पर हाथ का बोझ न पड़े, धरके निम्नलिखित मन्त्र बोले–

ओम् इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥१॥

* यहां पूर्व मन्त्र का शेषभाग (त्वा) इत्यादि उत्तर मन्त्रों के पश्चात् बोले ।

अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः ।
अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥२॥

ओम् अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव ।
वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥३॥

इन तीन मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात्—

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽ अस्तु त्र्यायुषम् ॥

इस मन्त्र का तीन वार जप करे ।

तत्पश्चात् बालक के स्कन्धों पर से हाथ उठा ले और जिस जगह पर बालक का जन्म हुआ हो वहां जाके—

ओं वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम् ॥१॥

इस मन्त्र का जप करे । तथा—

यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ ।
वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥२॥
यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् ।
वेदामृतस्येह नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥३॥
इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे[२] प्रजापती ।
यथायं न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि ॥४॥
यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् ।
तदहं विद्वाꣳस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥५॥

इन मन्त्रों को पढ़ता हुआ सुगन्धित जल से प्रसूता के शरीर का मार्जन करे ।

कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि ।
आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥६॥

स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ ॥७॥

इन मन्त्रों को पढ़के बालक को आशीर्वाद देवे । पुनः–

अङ्गाद् अङ्गात् सꣳस्त्रवसि हृदयादधिजायसे ।
प्राणं ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥८॥
अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥९॥
अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव ।
आत्माऽसि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम् ॥१०॥
पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥११॥

इन मन्त्रों को पढ़के पुत्र के शिर का आघ्राण करे अर्थात् सूंघे। इसी प्रकार जब-जब परदेश से आवे वा जावे, तब-तब भी इस क्रिया को करे, जिस से पुत्र और पिता-माता में अति प्रेम बढ़े ।

ओम् इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः ।
सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरत् ॥

इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करके, प्रसूता स्त्री को प्रसन्न करके, पश्चात् स्त्री के दोनों स्तन किञ्चित् उष्ण सुगन्धित जल से प्रक्षालन कर पोंछके–

ओम् इ॒मꣳ स्तन॒मूर्जस्वन्तं धया॒पां प्रपी॑नमग्ने स॒रि॒रस्य॒ मध्ये॑ ।
उत्स॑ं जुषस्व॒ मधु॑मन्तमर्वन्त्समु॒द्रिय॒ꣳ सद॑न॒मा वि॑शस्व ॥

इस मन्त्र को पढ़के दक्षिण स्तन प्रथम बालक के मुख में देवे। इसके पश्चात्–

ओं यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः ।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥

इस मन्त्र को पढ़के वाम स्तन बालक के मुख में देवे । तत्पश्चात्–

ओम् आपो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ ।
एवमस्याꣳ सूतिकायाꣳ सपुत्रिकायां जाग्रथ ॥

इस मन्त्र से प्रसूता स्त्री के शिर की ओर एक कलश जल से पूर्ण भरके दश रात्रि तक वहीं धर रक्खे तथा प्रसूता स्त्री प्रसूत-स्थान में दश दिन तक रहे । **वहां नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से भात और सरसों मिलाके दश दिन तक बराबर आहुतियाँ देवे–**

ओं शण्डामर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः । मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥

इदं शण्डामर्काभ्यामुपवीराय शौण्डिकेयायोलूखलाय मलिम्लुचाय द्रोणेभ्यश्च्यवनाय इदन्न मम ॥१॥

ओम् आलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा॥

इदमालिखतेऽनिमिषाय किंवदद्भ्य उपश्रुतये हर्यक्षाय कुम्भीशत्रवे पात्रपाणये नृमणये हन्त्रीमुखाय सर्षपारुणाय च्यवनाय इदन्न मम ॥२॥

इन मन्त्रों से १० दिन तक होम करके पश्चात् अच्छे–अच्छे विद्वान् धार्मिक वैदिक मतवाले बाहर खड़े रहकर और बालक का पिता भीतर रहकर **आशीर्वादरूपी नीचे लिखे मन्त्रों का पाठ** आनन्दित होके करें–

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तिनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥१॥

–अथर्व०का० ६। अनु० ४ । सू० ४१॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥२॥

–अथर्व० का० १२। अनु० २। मं० २३॥

विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥३॥

–अथर्व०का० १८। अनु० ३। मं० ६१॥

॥ इति जातकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[५]

अथ नामकरणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—नाम चास्मै दद्युः ॥१॥
घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरम् ॥२॥
चतुरक्षरं वा ॥३॥
द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः ॥४॥
युग्मानि त्वेव पुंसाम् ॥५॥ अयुजानि स्त्रीणाम् ॥६॥
अभिवादनीयं च समीक्षेत तन्मातापितरौ विदध्यातामो-पनयनात् ॥७॥ —इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रेषु ॥

दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति—द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्, अयुजाक्षरमाकारान्तꣳ स्त्रियै । शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य ॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्र में भी लिखा है।।

नामकरण—अर्थात् जन्मे हुए बालक का सुन्दर नाम धरे ।

नामकरण का काल—जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके **१० दिन छोड़ ग्यारहवें, वा एक सौ एकवें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो, नाम धरे ।**

जिस दिन नाम धरना हो, उस दिन अति प्रसन्नता से इष्ट मित्र हितैषी लोगों को बुला, यथावत् सत्कार कर, क्रिया का आरम्भ यजमान बालक का पिता और ऋत्विज करें ।

पुनः पृष्ठ ४-२१ में लिखे प्रमाणे सब मनुष्य **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** और सामान्यप्रकरणस्थ सम्पूर्ण विधि करके **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **(त्वन्नो अग्ने०)** इत्यादि आठ मन्त्रों से ८ आठ आहुति, अर्थात् सब मिलाके १६ घृताहुति करें ।

तत्पश्चात् बालक को शुद्ध स्नान करा, शुद्ध वस्त्र पहिनाके उस की माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से आ **दक्षिण भाग** में होकर, बालक का **मस्तक उत्तर दिशा में रखके,** बालक

के पिता के हाथ में देवे । **और स्त्री पुनः उसी प्रकार पति के पीछे होकर उत्तर भाग में पूर्वाभिमुख बैठे ।** तत्पश्चात् पिता उस बालक को उत्तर में शिर और दक्षिण में पग करके अपनी पत्नी को देवे । पश्चात् जो उसी संस्कार के लिए कर्त्तव्य हो, उस प्रथम प्रधान होम को करें । पूर्वोक्त प्रकार घृत और सब शाकल्य सिद्ध कर रखें। उस में से प्रथम घी का चमसा भरके—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥

इस मन्त्र से एक आहुति देकर, पीछे जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ चार आहुति देनी। अर्थात् एक तिथि, दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र, और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से, अर्थात् तिथि नक्षत्र और उन के देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोलके ४ चार घी की आहुति देवे । जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो तो—

ओं प्रतिपदे स्वाहा । ओं ब्रह्मणे स्वाहा । ओम् अश्विन्यै स्वाहा। ओम् अश्विभ्यां स्वाहा ॥*

तत्पश्चात् **पृष्ठ २१ में लिखी हुई स्विष्टकृत्-मन्त्र से एक आहुति और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे ४ चार व्याहृति आहुति** दोनों मिलके ५ पांच आहुति देके, तत्पश्चात् माता बालक को लेके शुभ आसन पर बैठे । और पिता बालक के नासिका द्वार से बाहर निकलते हुए वायु का स्पर्श करके—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम ॥

* **तिथिदेवताः**—१. ब्रह्मन् । २. त्वष्टृ । ३. विष्णु । ४. यम । ५. सोम। ६. कुमार । ७. मुनि । ८. वसु । ९. शिव । १०. धर्म । ११. रुद्र । १२. वायु । १३. काम । १४. अनन्त । १५. विश्वेदेव। ३०. पितर ।

नक्षत्रदेवताः—अश्विनी—अश्वी । भरणी—यम । कृत्तिका—अग्नि। रोहिणी—प्रजापति । मृगशीर्ष—सोम । आर्द्रा—रुद्र। पुनर्वसु—अदिति । पुष्य—बृहस्पति। आश्लेषा—सर्प । मघा—पितृ। पूर्वाफाल्गुनी—भग । उत्तराफाल्गुनी—अर्यमन् । हस्त—सवितृ । चित्रा—त्वष्टृ । स्वाति—वायु । विशाखा—इन्द्राग्नी। अनुराधा—मित्र। ज्येष्ठा—इन्द्र । मूल—निर्ऋति । पूर्वाषाढा—अप् । उत्तराषाढा—विश्वेदेव । श्रवण—विष्णु । धनिष्ठा—वसु । शतभिषज्—वरुण । पूर्वाभाद्रपदा—अजैकपाद् । उत्तराभाद्रपदा—अहिर्बुध्न्य। रेवती—पूषन् ।

भूर्भुवः स्वः । सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ —यजुः अ० ७। मं० २९।।

ओं कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि ।

आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥

जो यह ''असौ'' पद है, इस के पीछे बालक का ठहराया हुआ नाम, अर्थात् जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे दो अक्षर का वा चार अक्षर का, घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पांचों वर्गों के दो-दो अक्षर छोड़के तीसरा चौथा पांचवाँ और य र ल व—ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें* ।

जैसे—देव अथवा जयदेव। ब्राह्मण हो तो देवशर्मा, क्षत्रिय हो तो देववर्मा, वैश्य हो तो देवगुप्त और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि । और जो स्त्री हो तो एक, तीन वा पांच अक्षर का नाम रखे—श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि । नामों को प्रसिद्ध बोलके, पुनः **''असौ''** पद के स्थान में बालक का नाम धरके पुनः **(ओं कोऽसि०)** ऊपर लिखित मन्त्र बोलना ।

ओं स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु, असौ ॥

---

* ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म ये स्पर्श और य, र, ल, व ये चार अन्तःस्थ और ह एक ऊष्मा, इतने अक्षर नाम में होने चाहियें, और स्वरों में से कोई भी स्वर हो । जैसे—भद्रः, भद्रसेनः, देवदत्तः, भवः, भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, हरिदेवः इत्यादि । पुरुषों का समाक्षर नाम रखना चाहिये, तथा स्त्रियों का विषमाक्षर नाम रखे । अन्त्य में दीर्घ स्वर और तद्धितान्त भी होवे । जैसे—श्रीः, ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी, सौभाग्यवती, कल्याणक्रोडा इत्यादि । परन्तु स्त्रियों के जिस प्रकार के नाम कभी न रखे, उसमें प्रमाण—

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ मनुस्मृतौ

(ऋक्ष) रोहिणी, रेवती इत्यादि (वृक्ष) चम्पा, तुलसी इत्यादि (नदी) गङ्गा, यमुना, सरस्वती इत्यादि (अन्त्य) चाण्डाली इत्यादि (पर्वत) विन्ध्याचला, हिमालया इत्यादि (पक्षी) कोकिला, हंसा इत्यादि (अहि) सर्पिणी, नागी इत्यादि (प्रेष्य) दासी, किंकरी इत्यादि (भयंकर) भीमा, भयंकरी, चण्डिका इत्यादि नाम निषिद्ध हैं ।

इन मन्त्रों से बालक को जैसा जातकर्म में लिख आये हैं, वैसे आशीर्वाद देवें । इस प्रमाणे बालक का नाम रखके संस्कार में आये हुए मनुष्यों को वह नाम सुनाके पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे **महावामदेव्य गान** करें ।

तत्पश्चात् कार्यार्थ आये हुए मनुष्यों को आदर सत्कार करके विदा करे । और सब लोग जाते समय **पृष्ठ ४-६ में लिखे प्रमाणे परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना करके बालक को आशीर्वाद देवें कि—**

''हे बालक ! त्वमायुष्मान् वर्च्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः ।''

हे बालक ! [तू] आयुष्मान्, विद्यावान्, धर्मात्मा, यशस्वी, पुरुषार्थी, प्रतापी, परोपकारी, श्रीमान् हो ।।

।। इति नामकरणसंस्कारविधिः समाप्तः ।।

[६]

अथ निष्क्रमणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'निष्क्रमण' संस्कार उस को कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायुस्थान शुद्ध हो, वहां भ्रमण कराना होता है । उस का समय जब अच्छा देखें तभी बालक को बाहर घुमावें । अथवा **चौथे मास** में तो अवश्य भ्रमण करावें । इस में प्रमाण—

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति—तच्चक्षुरिति ॥

—यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है ॥

जननाद्यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम् ॥

—यह पारस्कर गृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थ—निष्क्रमण संस्कार के काल के **दो भेद हैं**—एक **बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया**, और दूसरा **चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो**, उस तिथि में यह संस्कार करे ।

उस संस्कार के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान करा, शुद्ध सुन्दर वस्त्र पहिनावे । पश्चात् बालक को यज्ञशाला में बालक की माता ले आके पति के दक्षिण पार्श्व में होकर, पति के सामने आकर, बालक का **मस्तक उत्तर और छाती ऊपर अर्थात् चित्ता रखके** पति के हाथ में देवे । पुनः पति के पीछे की ओर घूमके बांयें पार्श्व में पश्चिमाभिमुख **खड़ी रहे** ।

ओं यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ ।
वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम् ॥१॥
ओं यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् ।
वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम् ॥२॥
ओम् इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे प्रजापती ।
यथायं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि ॥३॥

इन तीन मन्त्रों से परमेश्वर की आराधना करके पृष्ठ ४-२३ में लिखे प्रमाणे **परमेश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** आदि और **सामान्यप्रकरणोक्त समस्त विधि कर** और पुत्र को देखके इन

निम्नलिखित तीन मन्त्रों से पुत्र के शिर को स्पर्श करे—

ओम् अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥१॥
ओं प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि ।
सहस्त्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥२॥
गवां त्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि ।
सहस्त्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम् ॥३॥

तथा निम्नलिखित मन्त्र बालक के दक्षिण कान में जपे—

अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः ।
अस्मे शतꣳ शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन् ॥१॥
इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनांꣳ स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥२॥

इस मन्त्र को वाम कान में जपके **पत्नी की गोद में उत्तर दिशा में शिर और दक्षिण दिशा में पग करके बालक को देवे ।** और मौन करके स्त्री के शिर का स्पर्श करे । तत्पश्चात् आनन्दपूर्वक उठके **बालक को सूर्य का दर्शन** करावे । और निम्नलिखित मन्त्र वहां बोले—

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

इस मन्त्र को बोलके थोड़ा सा शुद्ध वायु में भ्रमण कराके यज्ञशाला में लावे । सब लोग—

"त्वं जीवं शरदः शतं वर्धमानः" ॥

इस वचन को बोलके आशीर्वाद देवें ।

तत्पश्चात् बालक के माता और पिता संस्कार में आये हुए स्त्रियों और पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें ।

तत्पश्चात् जब **रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो,** तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहिना **दाहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके** देवे । और बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बाईं ओर आ, अञ्जलि में जल भरके चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रहके—

ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम् ।
तदहं विद्वांꣳस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम् ॥

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे ।

तत्पश्चात् बालक की माता पुनः पति के पृष्ठ की ओर से पति के दाहिने पार्श्व से सम्मुख आके, पति से पुत्र को लेके, पुनः पति के पीछे होकर बाईं ओर बालक का उत्तर की ओर शिर दक्षिण की ओर पग रखके खड़ी रहे और बालक का पिता जल की अञ्जलि भर **(ओं यददश्च०)** इसी मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके जल को पृथ्वी पर छोड़के दोनों प्रसन्न होकर घर में आवें ॥

॥ इति निष्क्रमणसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[७]

अथान्नप्राशनविधिं वक्ष्यामः

'अन्नप्राशन' संस्कार तभी करे, जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य होवे । इस में आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ॥१॥

घृतौदनं तेजस्कामः॥२॥

दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत् ॥३॥

इसी प्रकार पारस्करगृह्यसूत्रादि में भी है ॥

छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे । जिस को **तेजस्वी बालक करना हो, वह घृतयुक्त भात अथवा दही सहत और घृत तीनों भात के साथ मिलाके निम्नलिखित विधि से अन्नप्राशन करावे ।** अर्थात् पूर्वोक्त पृष्ठ ४-२४ में कहे हुए सम्पूर्ण विधि को करके जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो, उसी दिन यह संस्कार करे । और निम्न लिखे प्रमाणे भात सिद्ध करे—

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥१॥

ओम् अपानाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥२॥

ओं चक्षुषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥३॥

ओं श्रोत्राय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥४॥

ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥५॥

इन पांच मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि चावलों को धो शुद्ध करके अच्छे प्रकार बनाना और पकते हुए भात में यथायोग्य घृत भी डाल देना।

जब अच्छे प्रकार पक जावें तब उतार थोड़े ठण्डे हुए पश्चात् होमस्थाली में—

ओं प्राणाय त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥१॥

ओम् अपानाय त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥२॥

ओं चक्षुषे त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥३॥

ओं श्रोत्राय त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥४॥

ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥५॥

इन पांच मन्त्रों से कार्यकर्त्ता यजमान और पुरोहित तथा ऋत्विजों को पात्र में पृथक्-पृथक् देके पृष्ठ १९-२० में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान,

समिदाधानादि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार मिलके ८ आठ घृत की आहुति देके, पुनः उस पकाये हुए भात की आहुति नीचे लिखे हुए मन्त्रों से देवे—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु स्वाहा ॥
इदं वाचे इदन्न मम ॥१॥[४]

वाजो नोऽअद्य प्र सुवाति दानं वाजो देवाँऽ ऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वाऽआशा वाजपतिर्जयेयꣳ स्वाहा ॥ इदं वाचे वाजाय इदन्न मम ॥२॥

इन दो मन्त्रों से दो आहुति देवें । तत्पश्चात् उसी भात में और घृत डालके—

ओं प्राणेनान्नमशीय स्वाहा ॥ इदं प्राणाय इदन्न मम ॥१॥
ओमपानेन गन्धानशीय स्वाहा ॥ इदमपानाय इदन्न मम ॥२॥
ओं चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा ॥ इदं चक्षुषे इदन्न मम ॥३॥
ओं श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा ॥ इदं श्रोत्राय इदन्न मम ॥४॥

इन मन्त्रों से ४ चार आहुति देके, **(ओं यदस्य कर्मणो०)** पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत् आहुति एक देवे । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार, और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **(ओं त्वन्नो०)** इत्यादि से ८ आठ आज्याहुति मिलके १२ बारह आहुति देवे।

उस के पीछे आहुति से बचे हुए भात में दही मधु और उस में घी यथायोग्य किञ्चित्-किञ्चित् मिलाके, और सुगन्धियुक्त और भी चावल बनाये हुए थोड़े से मिलाके बालक के रुचि प्रमाणे—

ओम् अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्रप्र दातारं तारिषऽ ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

इस मन्त्र को पढ़के थोड़ा-थोड़ा पूर्वोक्त भात बालक के मुख में देवे। यथारुचि खिला, बालक का मुख धो और अपने हाथ धोके पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करके, जो बालक के माता-पिता और अन्य वृद्ध स्त्री-पुरुष आये हों, वे परमात्मा की प्रार्थना करके—

"त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः ॥"

इस वाक्य से बालक को आशीर्वाद देके, पश्चात् संस्कार में आये हुए पुरुषों का सत्कार बालक का पिता और स्त्रियों का सत्कार बालक की माता करके सब को प्रसन्नतापूर्वक विदा करें ॥

॥ इत्यन्नप्राशनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[८]

अथ चूडाकर्मसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

यह आठवाँ संस्कार 'चूडाकर्म' है, जिस को केशछेदन-संस्कार भी कहते हैं । इस में आश्वलायन गृह्यसूत्र का मत ऐसा है—

तृतीये वर्षे चौलम् ॥१॥

उत्तरतोऽग्नेर्व्रीहियवमाषतिलानां शरावाणि निदधाति॥२॥

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्रादि में भी है—

सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम् ॥

इसी प्रकार गोभिलीय गृह्यसूत्र का भी मत है ॥

यह चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म के तीसरे वर्ष वा एक वर्ष में करना । उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्दमङ्गल हो, उस दिन यह संस्कार करे ।

विधि—आरम्भ में पृष्ठ ४-२४ में लिखित विधि करके चार शरावे ले । एक में चावल, दूसरे में यव, तीसरे में उर्द और चौथे शरावे में तिल भरके वेदी के उत्तर में धर देवे । धरके पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **''ओम् अदितेऽनुमन्यस्व''** इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन बाजू, और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **'ओं देव सवितः प्रसुव०'** इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटकाके, पूर्व पृष्ठ १९ में लिखित **अग्न्याधान समिदाधान** कर अग्नि को प्रदीप्त करके, जो समिधा प्रदीप्त हुई हो उस पर लक्ष्य देकर पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे आठ **आज्याहुति,** सब मिलके १६ सोलह आहुति देके, पृष्ठ २१-२२ में लिखे प्रमाणे **''ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि०''** इत्यादि मन्त्रों से चार आज्याहुति प्रधान होम की देके, पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **स्विष्टकृत्** मन्त्र से एक आहुति मिलके पाँच घृत की आहुति देवें ।

इतनी क्रिया करके कर्मकर्त्ता परमात्मा का ध्यान करके नाई की ओर प्रथम देखके—

ओम् आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि । आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः॥

—अथर्व० कां० ६। सू० ६८॥

इस मन्त्र का जप करके, **पिता** बालक के पृष्ठ-भाग में बैठके किञ्चित् **उष्ण और किञ्चित् ठण्डा जल** दोनों पात्रों में लेके—

ओम् उष्णेन वाय उदकेनैधि ॥

इस मन्त्र को बोलके दोनों पात्र का जल **एक पात्र में मिला देवे।** पश्चात् थोड़ा **जल, थोड़ा माखन अथवा दही की मलाई लेके—**

ओम् अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा ।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥१॥

—अथर्व०कां० ६। सू० ६८ ॥

ओं सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे ॥२॥

इन मन्त्रों को **बोलके,** बालक के **शिर के बालों में तीन वार हाथ** फेरके केशों को **भिगोवे** । तत्पश्चात् कङ्घा लेके केशों को सुधार के इकट्ठा करे, अर्थात् बिखरे न रहें । तत्पश्चात्—

ओम् ओषधे त्रायस्वैनम् ॥[१]

इस मन्त्र को बोलके **तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के** समूह को हाथ से दबाके—

ओं विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि ॥

इस मन्त्र से छुरे की ओर देखके—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽ अस्तु मा मा हिंसीः॥

इस मन्त्र को बोलके **छुरे को दहिने हाथ में लेवे** । तत्पश्चात्—

ओं स्वधिते मैनं हिंसीः ॥१॥

ओं निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥२॥

इन दो मन्त्रों को बोलके उस छुरे और उन कुशाओं को केशों के समीप ले जाके—

१—ओं येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥

—अथर्व० का० ६। सू० ६८ ॥

इस मन्त्र को बोलके **कुशासहित उन केशों को काटे*** और वे काटे हुए केश और **दर्भ शमीवृक्ष के पत्रसहित,** अर्थात् यहां शमीवृक्ष के पत्र भी प्रथम से रखने चाहिएँ, उन सब को **लड़के का पिता** और **लड़के की मां एक शरावा में रक्खें** और कोई केश छेदन करते समय उड़ा हो, उस को **गोबर से उठाके शरावा में** अथवा उस के पास रखें। तत्पश्चात् इसी प्रकार—

२—ओं येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत् ।
तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से दूसरी वार केश का समूह **दूसरी ओर का काटके** उसी प्रकार शरावा में रखे । तत्पश्चात्—

३—ओं येन भूयश्च रात्र्यां ज्योक् च पश्याति सूर्यम् ।
तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

इस मन्त्र से तीसरी वार उसी प्रकार केशसमूह को काटके उपरि उक्त तीन मन्त्रों—अर्थात् **(ओं येनावपत्०), (ओं येन धाता०), (ओं येन भूयश्च०),** और—

४—ओं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत् ।
तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे ॥

इस एक, इन चार मन्त्रों को बोलके **चौथी वार** इसी प्रकार केशों के **समूह को काटे** । अर्थात् **प्रथम दक्षिण बाजू के केश** काटने का विधि पूर्ण हुए पश्चात् **बायीं ओर के केश काटने का विधि** करे। तत्पश्चात् **उस के पीछे आगे के केश काटे** ।

परन्तु चौथी वार काटने में **''येन पूषा०''** इस मन्त्र के बदले—

ओं येन भूरिश्चरादिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम् । तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये ॥

यह मन्त्र बोल **चौथी वार** छेदन करे । तत्पश्चात्—

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽ अस्तु त्र्यायुषम् ॥

इस एक मन्त्र को बोलके शिर के पीछे के केश एक वार काटके इसी **(ओं त्र्यायुषं०)** मन्त्र को बोलते जाना और ओंधे हाथ के पृष्ठ

* केशछेदन की रीति ऐसी है कि दर्भ और केश दोनों युक्ति से पकड़ कर अर्थात् दोनों ओर से पकड़के बीच में से केशों को छुरे से काटे। यदि छुरे के बदले कैंची से काटे तो भी ठीक है ।

से बालक के शिर पर हाथ फेरके मन्त्र पूरा हुए पश्चात् छुरा नाई के हाथ में देके–

ओं यत् क्षुरेण मर्चयता सुपेशसा वप्ता वपसि केशान् ।
शुन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीः ॥

इस मन्त्र को बोलके नापित से पथरी पर छुरे की धार तेज कराके, नापित से बालक का पिता कहे कि–'इस शीतोष्ण जल से बालक का शिर अच्छे प्रकार कोमल हाथ से भिगो । सावधानी और कोमल हाथ से क्षौर कर । कहीं छुरा न लगने पावे'। इतना कहके **कुण्ड से उत्तर दिशा में नापित को ले जा,** उसके सम्मुख **बालक को पूर्वाभिमुख** बैठाके, जितने केश रखने हों, उतने ही केश रखे । परन्तु **पांचों ओर थोड़ा-थोड़ा केश रखावे,** अथवा **किसी एक ओर रखे।** **अथवा एक वार सब कटवा देवे, पश्चात् दूसरी वार के केश रखने अच्छे होते हैं ।**

जब क्षौर हो चुके, तब कुण्ड के पास पड़ा वा धरा हुआ देने के योग्य पदार्थ वा शरावा आदि कि **जिनमें प्रथम अन्न भरा था, नापित को देवे** और मुण्डन किये हुए सब केश दर्भ शमीपत्र और गोबर नाई को देवे । **यथायोग्य उस को धन वा वस्त्र भी देवे और नाई केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर को जङ्गल में ले जा, गढ़ा खोदके उस में सब डाल ऊपर से मिट्टी से दबा देवे ।** अथवा गोशाला, नदी वा तालाब के किनारे पर उसी प्रकार केशादि को गाड़ देवे, ऐसा नापित से कह दे। अथवा किसी को साथ भेज देवे, वह उस से उक्त प्रकार करवा लेवे ।

क्षौर हुए पश्चात् मक्खन अथवा दही की मलाई हाथ में लगा, बालक के शिर पर लगाके स्नान करा, उत्तम वस्त्र पहिनाके, बालक को पिता अपने पास ले शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठके, पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे सामवेद का महावामदेव्यगान करके, बालक की माता स्त्रियों और बालक का पिता पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें और जाते समय सब लोग तथा बालक के माता-पिता परमेश्वर का ध्यान करके–

"ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः" ॥

इस मन्त्र को बोल बालक को आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को पधारें। और बालक के माता-पिता प्रसन्न होकर बालक को प्रसन्न रक्खें॥

॥ इति चूडाकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[९]

अथ कर्णवेधसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—

कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा ॥

—यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है ॥

बालक के कर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे वा पांचवें वर्ष का उचित है ।

जो दिन कर्ण वा नासिका के वेध का ठहराया हो, उसी दिन बालक को प्रातःकाल शुद्ध जल से स्नान और वस्त्रालङ्कार धारण कराके बालक की माता यज्ञशाला में लावे । पृष्ठ **४-२४ तक लिखा हुआ सब विधि करे** और उस बालक के आगे कुछ खाने का पदार्थ वा खिलौना धरके—

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

इस मन्त्र को पढ़के चरक सुश्रुत वैद्यक-ग्रन्थों के जाननेवाले सद्वैद्य के हाथ से **कर्ण वा नासिका वेध** करावें कि जो नाड़ी आदि को बचाके वेध कर सके । पूर्वोक्त मन्त्र से दक्षिण कान । और—

ओं वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳ सखायं परिषस्वजाना ।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयꣳ समने पारयन्ती ॥

इस मन्त्र को पढ़के दूसरे वाम कर्ण का वेध करे ।

तत्पश्चात् वही वैद्य उन छिद्रों में शलाका रक्खे कि जिस से छिद्र पूर न जावें । और ऐसी ओषधि उस पर लगावे, जिस से कान पकें नहीं और शीघ्र अच्छे हो जावें ॥

॥ इति कर्णवेधसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[१०]

अथोपनयन*-संस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणानि—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् ॥१॥ गर्भाष्टमे वा ॥२॥
एकादशे क्षत्रियम् ॥३॥ द्वादशे वैश्यम् ॥४॥
आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः ॥५॥
आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद् वैश्यस्य, अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥६॥

—यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण है ॥

इसी प्रकार पारस्करादि गृह्यसूत्रों का भी प्रमाण है ॥

अर्थ—जिस दिन जन्म हुआ हो, अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो, उस से ८ आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें तथा ब्राह्मण के १६ सोलह, क्षत्रिय के २२ बाईस, और वैश्य के बालक का २४ चौबीसवें वर्ष से पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिये। यदि पूर्वोक्त काल में इन का यज्ञोपवीत न हो तो वे पतित माने जावें।

श्लोक—   **ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।**
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥

—यह मनुस्मृति का वचन है।

जिस को शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।

परन्तु यह बात तब सम्भव है कि जब बालक की माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ होवे। उन्हीं के ऐसे उत्तम बालक, श्रेष्ठबुद्धि और शीघ्रसमर्थ बढ़नेवाले होते हैं। जब बालक का शरीर और बुद्धि ऐसी हो कि अब यह पढ़ने के योग्य हुआ, तभी यज्ञोपवीत करा देवें।

यज्ञोपवीत का समय—उत्तरायण सूर्य, और—

---

* उप नाम समीप नयन अर्थात् प्राप्त करना वा होना ॥

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्। ग्रीष्मे राजन्यम्।
शरदि वैश्यम्। सर्वकालमेके ॥ —यह शतपथब्राह्मण का वचन है ॥

अर्थ—ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें। अथवा सब ऋतुओं में उपनयन हो सकता है और इस का प्रातःकाल ही समय है।

पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः॥
—यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है ॥

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो, उस से तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को कराना चाहिये। उन व्रतों में ब्राह्मण का लड़का एक वार वा अनेक वार दुग्धपान, क्षत्रिय का लड़का 'यवागू' अर्थात् यव को मोटा दलके गुड़ के साथ पतली, जैसी कि कढ़ी होती है, वैसी बनाकर पिलावें। और 'आमिक्षा' अर्थात् जिस को श्रीखण्ड वा सिखण्ड कहते हैं, वैसी जो दही चौगुना, दूध एक गुना तथा यथायोग्य खांड केसर डालके कपड़े में छानकर बनाया जाता है, उस को वैश्य का लड़का पीके व्रत करे, अर्थात् जब-जब लड़कों को भूख लगे, तब-तब तीनों वर्णों के लड़के इन तीनों पदार्थों ही का सेवन करें, अन्य पदार्थ कुछ न खावें-पीवें।

विधि—अब जिस दिन उपनयन करना हो, उस के पूर्व दिन में सब सामग्री इकट्ठी कर याथातथ्य शोधन आदि कर लेवे। और उस दिन पृष्ठ ४-२४वें तक सब कुण्ड के समीप सामग्री धर, प्रातःकाल बालक का क्षौर करा, शुद्ध जल से स्नान करावे। उत्तम वस्त्र पहिना, यज्ञमण्डप में पिता वा आचार्य बालक को मिष्टान्नादि का भोजन कराके, वेदी के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठावे और बालक का पिता और पृष्ठ १७-१८ में लिखे प्रमाणे ऋत्विज् लोग भी पूर्वोक्त प्रकार अपने-अपने आसन पर बैठ, यथावत् **आचमनादि** क्रिया करें।

पश्चात् कार्यकर्त्ता बालक के मुख से—

ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि ॥

ये वचन बुलवाके आचार्य*—

---

* 'आचार्य' उस को कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया का जाननेहारा, छल-कपट-रहित, अतिप्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन-मन और धन से सब को सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे, और सत्योपदेष्टा, सब का हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे ॥

ओं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् ।
तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे ॥

इस मन्त्र को बोलके बालक को सुन्दर वस्त्र और उपवस्त्र पहिनावे। पश्चात् बालक आचार्य के सम्मुख बैठे और यज्ञोपवीत हाथ में लेके—

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥१॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥२॥

इन मन्त्रों को बोलके आचार्य बायें स्कन्ध के ऊपर कण्ठ के पास से शिर बीच में निकाल दहिने हाथ के नीचे बगल में निकाल कटि तक धारण करावे । तत्पश्चात् बालक को अपने दहिने ओर साथ बैठाके ईश्वर की **स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन** और **शान्तिकरण** का पाठ करके **समिदाधान अग्न्याधान** कर **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०)** इत्यादि पूर्वोक्त चार मन्त्रों से पूर्वोक्त रीति से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका, पश्चात् आज्याहुति करने का आरम्भ करना ।

वेदी में प्रदीप्त हुई समिधा को लक्ष्य में धर, चमसा में आज्यस्थाली से घी ले, **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार, और **व्याहृति आहुति** ४ चार तथा पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे **आज्याहुति** ८ आठ, तीनों मिलके १६ सोलह घृत की आहुति देके, पश्चात् बालक के हाथ से प्रधानहोम, जो विशेष शाकल्य बनाया हो, उस की आहुतियाँ निम्नलिखित मन्त्रों से दिलानी—**(ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि०)** पृष्ठ २१–२२ में लिखे प्रमाणे ४ चार आज्याहुति देवें । तत्पश्चात्—

ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम् ।
तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥
इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥
ओं वायो व्रतपते०* स्वाहा ॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥२॥
ओं सूर्य व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥३॥
ओं चन्द्र व्रतपते० स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥४॥
ओं व्रतानां व्रतपते० स्वाहा ॥
इदमिन्द्राय व्रतपतये इदन्न मम ॥५॥

इन ५ पांच मन्त्रों से ५ पांच आज्याहुति दिलानी । उस के पीछे पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे

* इसके आगे 'व्रतं चरिष्यामि' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र बोलना चाहिए ।

प्रमाणे स्विष्टकृत् आहुति १ एक और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे प्राजापत्याहुति १ एक, ये सब मिलके ६ छह घृत की आहुति देनी। सब मिलके १५ पन्द्रह आहुति बालक के हाथ से दिलानी ।

उसके पश्चात् आचार्य यज्ञकुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख बैठे । और बालक आचार्य के सम्मुख पश्चिम में मुख करके बैठे। तत्पश्चात् आचार्य बालक की ओर देखके—

ओम् आगन्त्रा समगन्महि प्र सुमर्त्यं युयोतन ।
अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति चरतादयम् ॥१॥

इस मन्त्र का जप करे ।

माणवकवाक्यम्—''ओं ब्रह्मचर्यमागामुप मा नयस्व'' ।
आचार्योक्तिः—''को नामासि[1] ?''
बालकोक्तिः—''एतन्नामास्मि[2] ।''

तत्पश्चात्—

ओम् आपो॒ हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ऽ ऊ॒र्जे द॑धातन ।
म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से ॥१॥
यो व॑ः शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह न॑ः ।
उ॒श॒तीरि॑व मा॒तर॑ः ॥२॥
तस्मा॒ऽ अर॑ं गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ ।
आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों को पढ़के बटुक की दक्षिण हस्ताञ्जलि शुद्धोदक से भरनी ।

तत्पश्चात् आचार्य अपनी हस्ताञ्जलि भरके—

ओं तत्स॑वि॒तुर्वृ॑णीमहे व॒यं दे॒वस्य॒ भोज॑नम् ।
श्रेष्ठ॑ं सर्व॒धात॑म॒ं तुर॒ं भग॑स्य धीमहि ॥

इस मन्त्र को पढ़के आचार्य अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलि में छोड़के, बालक की हस्ताञ्जलि अङ्गुष्ठसहित पकड़के—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसौ* ॥

---

१. तेरा नाम क्या है, ऐसा पूछना ।
२. मेरा यह नाम है ।
* 'असौ' इस पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नामोच्चारण सर्वत्र करना चाहिए ।

इस मन्त्र को पढ़के बालक की हस्ताञ्जलि का जल नीचे पात्र में छुड़ा देना । इसी प्रकार दूसरी वार, अर्थात् प्रथम आचार्य अपनी अञ्जलि भर, बालक की अञ्जलि में अपनी अञ्जलि का जल भरके, अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़के दूसरी वार–

ओं सविता ते हस्तमग्रभीत्, असौ* ॥

इस मन्त्र से पात्र में छुड़वा दे । पुनः इसी प्रकार तीसरी वार आचार्य अपने हाथ में जल भर, पुनः बालक की अञ्जलि में भर, अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़के–

ओम् अग्निराचार्यस्तव, असौ* ॥

तीसरी वार बालक की अञ्जलि का जल छुड़वाके, बाहर निकल सूर्य के सामने खड़े रह देखके आचार्य–

ओं देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी तं गोपाय समामृत ॥

इस एक और पृष्ठ ५४ में लिखे प्रमाणे **(तच्चक्षुर्देवहितम्०)** इस दूसरे मन्त्र को पढ़के बालक को सूर्यावलोकन करा, बालक सहित आचार्य सभामण्डप में आ, यज्ञकुण्ड की उत्तरबाजू की ओर बैठके–

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ॥

ओं सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व, असौ* ॥

इस मन्त्र को पढ़े । और बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके आचार्य के सम्मुख बैठे। पश्चात् आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्ध पर अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श, और पश्चात् अपने हाथ को वस्त्र से आच्छादित करके–

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम्* ॥१॥

इस मन्त्र को बोलने के पश्चात्–

ओम् अहुर इदं ते परिददामि, अमुम्* ॥२॥

इस मन्त्र से उदर पर । और–

ओं कृशन इदं ते परिददामि, अमुम्* ॥३॥

इस मन्त्र से हृदय ।

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि, असौ* ॥४॥

इस मन्त्र को बोलके दक्षिण स्कन्ध । और–

---

* 'असौ' और 'अमुम्' इन दोनों पदों के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिए ।

ओं देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, असौ ॥५॥

इस मन्त्र को बोलके वाम हाथ से बायें स्कन्धा पर स्पर्श करके, बालक के हृदय पर हाथ धरके–

ओं तं धीरा॑सः क॒वय॒ उन्न॑यन्ति स्वा॒ध्यो॒३॑ मन॑सा देव॒यन्त॑ः ॥६॥

इस मन्त्र को बोलके आचार्य सम्मुख रहकर बालक के दक्षिण हृदय पर अपना हाथ रखके–

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

आचार्य इस प्रतिज्ञामन्त्र को बोले ।

अर्थात्–'हे शिष्य बालक ! तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं । तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे । और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर। और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे । यह प्रतिज्ञा करावे ।

इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि–हे आचार्य! आपके हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूं । मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिये । और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रखे ।

इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञा करके–

आचार्योक्तिः–को नामाऽसि ?

तेरा नाम क्या है ?

बालकोक्तिः–[असौ] अहम्भोः ।

मेरा अमुक नाम है । ऐसा उत्तर देवे ।

आचार्यः–कस्य ब्रह्मचार्यसि ?

तू किस का ब्रह्मचारी है ?

बालकः–भवतः ।

आपका ।

आचार्य बालक की रक्षा के लिये–

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव असौ* ॥

इस मन्त्र को बोले । तत्पश्चात्–

* 'असौ' इस पद के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिए।

ओं कस्य ब्रह्मचार्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि ॥१॥

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि । देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि । द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि । सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै ॥२॥

इन मन्त्रों को बोल बालक को शिक्षा करे कि—'तू प्राण आदि की विद्या के लिये यत्नवान् हो' ।

यह उपनयन संस्कार पूरे हुए पश्चात् यदि उसी दिन वेदारम्भ करने का विचार पिता और आचार्य का हो तो उसी दिन करना । और जो दूसरे दिन का विचार हो तो पृष्ठ २३–२४ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करके संस्कार में आई हुई स्त्रियों का बालक की माता, और पुरुषों का बालक का पिता सत्कार करके विदा करे। और माता-पिता आचार्य सम्बन्धी इष्ट मित्र सब मिलके—

'ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्द्धमानः, आयुष्मान्, तेजस्वी, वर्चस्वी भूयाः॥'

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को सिधारें ॥

॥ इत्युपनयनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[११]

अथ वेदारम्भसंस्कारविधिर्विधीयते

'वेदारम्भ' उस को कहते हैं—'जो गायत्री मन्त्र से लेके साङ्गोपाङ्ग[1] चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना।

समय—जो दिन उपनयन-संस्कार का है, वही वेदारम्भ का है। यदि उस दिवस में न हो सके, अथवा करने की इच्छा न हो तो दूसरे दिन करे । यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे ।

विधि—जो वेदारम्भ का दिन ठहराया हो, उस दिन प्रातःकाल शुद्धोदक से स्नान कराके, शुद्ध वस्त्र पहिना, पश्चात् कार्यकर्त्ता अर्थात् पिता, यदि पिता न हो तो आचार्य बालक को लेके उत्तमासन पर वेदी के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठे ।

तत्पश्चात् पृष्ठ ४-११ तक **ईश्वरस्तुति,**[2] **प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** करके, पृष्ठ १८-१९ में **(भूर्भुवः स्वः०)** इस मन्त्र से अग्न्याधान, **(ओं अयन्त इध्म०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से समिदाधान, पृष्ठ २० में **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०)** इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीनों ओर और **(ओं देव सवितः०)** इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटकाके पृ० १९ में **(उद्बुध्यस्वाग्ने०)** इस मन्त्र से अग्नि को प्रदीप्त करके, प्रदीप्त समिधा पर, पृष्ठ २०-२१ में **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार, **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में **आज्याहुति** ८ आठ मिलके १६ सोलह आज्याहुति देने के पश्चात् प्रधान[3] होमाहुति दिलाके, पश्चात् पृष्ठ २१ में **व्याहृति आहुति** ४ चार और **स्विष्टकृद् आहुति** १ एक, तथा पृष्ठ २१ में **प्राजापत्याहुति**

---

१. **अङ्ग**—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष । **उपाङ्ग**—पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त । **उपवेद**—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व-वेद और अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र । **ब्राह्मण**—ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ । **वेद**—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन सब को क्रम से पढ़े ।

२. जो उपनयन किये पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करे, उस को पुनः वेदारम्भ के आदि में ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करना आवश्यक नहीं ।

३. 'प्रधान होम' उस को कहते हैं, जो संस्कार में मुख्य करके किया जाता हो।

१ एक मिलकर छह आज्याहुति बालक के हाथ से दिलानी । तत्पश्चात्—

ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मां कुरु । यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि । एवं माꣳ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु । यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि । एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम् ॥

इस मन्त्र से वेदी के अग्नि को इकट्ठा करना ।

तत्पश्चात् बालक कुण्ड की प्रदक्षिणा करके, पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **(अदितेऽनुमन्यस्व०)** इत्यादि ४ मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जलसिञ्चन करके, बालक कुण्ड के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा रहकर, घृत में भिजोके एक समिधा हाथ में ले—

ओम् अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे । यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽएवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभि-र्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्य-निराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहा ॥

समिधा वेदीस्थ अग्नि के मध्य में छोड़ देना। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी समिधा छोड़े ।

पुनः ऊपर दिये प्रमाणे **(ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं०)** इस मन्त्र से वेदीस्थ अग्नि को इकट्ठा करके पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जलसेचन करके बालक वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठके, वेदी के अग्नि पर दोनों हाथों को थोड़ा सा तपाके हाथ में जल लगा—

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ॥१॥
ओम् आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ॥२॥
ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ॥३॥
ओम् अग्ने यन्मे तन्वाऽ ऊनं तन्म आपृण ॥४॥
ओं मेधां मे देवः सविता आदधातु ॥५॥
ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु ॥६॥
ओं मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ ॥७॥

इन सात मन्त्रों से सात वार किञ्चित् हथेली उष्ण कर, जल स्पर्श करके मुख स्पर्श करना । तत्पश्चात् बालक—

ओं वाक् च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से मुख ।
ओं प्राणश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से नासिका द्वार ।

ओं चक्षुश्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्र ।
ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायताम् ॥ इस मन्त्र से दोनों कान ।
ओं यशो बलञ्च म आप्यायताम् ॥[3] इस मन्त्र से दोनों बाहुओं को स्पर्श करे ।

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु ।
मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु ।
मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु ।
यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम् ।
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम् ।
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ॥

इन मन्त्रों से बालक परमेश्वर का उपस्थान करके कुण्ड की उत्तरबाजू की ओर जाके, जानू को भूमि में टेकके पूर्वाभिमुख बैठे। और आचार्य बालक के सम्मुख पश्चिमाभिमुख बैठे ।

बालकोक्तिः—अधीहि भूः सावित्रीम् भो अनुब्रूहि ॥

अर्थात् आचार्य से बालक कहे कि—'हे आचार्य ! प्रथम एक ओंकार, पश्चात् तीन महाव्याहृति, तत्पश्चात् सावित्री—ये त्रिक अर्थात् तीनों मिलके परमात्मा के वाचक मन्त्र को मुझे उपदेश कीजिये'।

तत्पश्चात् आचार्य एक वस्त्र अपने और बालक के कन्धे पर रखके अपने हाथ से बालक के दोनों हाथों की अञ्जलि को पकड़के नीचे लिखे प्रमाणे बालक को तीन वार करके गायत्री मन्त्रोपदेश करे ।

प्रथम वार—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् ।

इतना टुकड़ा एक-एक पद का शुद्ध उच्चारण बालक से कराके, दूसरी वार—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

एक-एक पद से यथावत् धीरे-धीरे उच्चारण करवाके, तीसरी वार—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

धीरे-धीरे इस मन्त्र को बुलवाके, संक्षेप से इसका अर्थ भी नीचे लिखे प्रमाणे आचार्य सुनावे—

अर्थ—(ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है, जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं । (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुवः) सब

दुःखों से छुड़ानेहारा, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति करानेहारा है, (तत्) उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय करानेहारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करनेयोग्य (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करनेहारा, पवित्र शुद्ध स्वरूप है, (तत्) उस को हम लोग (धीमहि) धारण करें। (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे।

इसी प्रयोजन के लिए इस जगदीश्वर ही की स्तुतिप्रार्थनोपासना करना और इस से भिन्न किसी को उपास्य, इष्टदेव, उस के तुल्य वा उस से अधिक नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार अर्थ सुनाये। पश्चात्–

ओं मम व्रते हृदयं ते दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकव्रतो जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

इस मन्त्र से बालक और आचार्य पूर्ववत् दृढ़ प्रतिज्ञा करके–

ओम् इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥

इस मन्त्र से आचार्य सुन्दर, चिकनी, प्रथम बनाके रखी हुई मेखला* को बालक की कटि में बांधके–

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥

इस मन्त्र को बोलके दो शुद्ध कोपीन, दो अंगोछे और एक उत्तरीय और दो कटिवस्त्र ब्रह्मचारी को आचार्य देवे और उन में से एक कोपीन, एक कटिवस्त्र और एक उपन्ना बालक को आचार्य धारण करावे। तत्पश्चात् आचार्य दण्ड[१] हाथ में लेके सामने खड़ा रहे और बालक भी आचार्य के सामने हाथ जोड़–

---

* ब्राह्मण को मुञ्ज वा दर्भ की, क्षत्रिय को धनुषसंज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य को ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिए।

१. ब्राह्मण के बालक को खड़ा करके भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्व वृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रू तक, वैश्य को पीलू अथवा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दण्ड प्रमाण है। और वे दण्ड चिकने सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े, कीड़ों के खाये हुए न हों। और एक-एक मृगचर्म उनके बैठने के लिए, एक-एक जलपात्र, एक-एक उपपात्र और एक-एक आचमनीय सब ब्रह्मचारियों को देना चाहिए।

ओं यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम् ।
तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥

इस मन्त्र को बोलके बालक आचार्य के हाथ से दण्ड ले लेवे। तत्पश्चात् पिता ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम का साधारण उपदेश करे—

ब्रह्मचार्यसि असौ[1] ॥१॥ अपोऽशान ॥२॥ कर्म कुरु ॥३॥ दिवा मा स्वाप्सीः ॥४॥ आचार्याधीनो वेदमधीष्व ॥५॥ द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण वा ब्रह्मचर्यं चर ॥६॥ आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥७॥

क्रोधानृते वर्जय ॥८॥ मैथुनं वर्जय ॥९॥ उपरि शय्यां वर्जय ॥१०॥ कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय ॥११॥ अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय ॥१२॥ प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्त्थायावश्यकं कृत्वा दन्तधावनस्नान-सन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर ॥१३॥ क्षुरकृत्यं वर्जय ॥१४॥ मांसरूक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय ॥१५॥ गवाश्वहस्त्युष्ट्रादियानं वर्जय ॥१६॥ अन्तर्ग्रामनिवासोपानच्छत्र-धारणं वर्जय ॥१७॥ अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव॥१८॥ तैलाभ्यङ्ग-मर्दनात्यम्लातितिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व ॥१९॥ नित्यं युक्ताहार-विहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव ॥२०॥ सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव ॥२१॥[1] मेखलादण्डधारणभैक्ष्य-चर्यसमिदाधानोदकस्पर्शनाचार्यप्रियाचरणप्रातःसायमभिवादन-विद्यासञ्चयजितेन्द्रियत्वादीन्येते ते नित्यधर्माः ॥२२॥

अर्थ—तू आज से ब्रह्मचारी है ॥१॥ **नित्य सन्ध्योपासन भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया कर** ॥२॥ दुष्ट कर्मों को छोड़ धर्म किया कर ॥३॥ दिन में शयन कभी मत कर ॥४॥ आचार्य के आधीन रहके नित्य साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने में पुरुषार्थ किया कर ॥५॥ एक-एक साङ्गोपाङ्ग वेद के लिये बारह-बारह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् ४८ वर्ष तक वा जब तक साङ्गोपाङ्ग चारों वेद पूरे होवें, तब तक अखण्डित ब्रह्मचर्य कर ॥६॥ आचार्य के आधीन धर्माचरण में रहा कर । परन्तु यदि आचार्य अधर्माचरण वा अधर्म करने का उपदेश करे,

१. 'असौ' इस पद के स्थान में ब्रह्मचारी का नाम सर्वत्र उच्चारण करे ।

उस को तू कभी मत मान, और उस का आचरण मत कर ॥७॥ क्रोध और मिथ्याभाषण करना छोड़ दे ॥८॥ आठ* प्रकार के मैथुन को छोड़ देना ॥९॥ भूमि में शयन करना, पलङ्ग आदि पर कभी न सोना ॥१०॥ कौशीलव अर्थात् गाना, बजाना तथा नृत्य आदि निन्दित कर्म, गन्ध और अञ्जन का सेवन मत कर ॥११॥ अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक का ग्रहण कभी मत कर ॥१२॥ रात्रि के चौथे पहर में जाग, आवश्यक शौचादि, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना, योगाभ्यास का आचरण नित्य किया कर ॥१३॥ क्षौर मत करा ॥१४॥ मांस, रूखा शुष्क अन्न मत खावे और मद्यादि मत पीवे ॥१५॥ बैल, घोड़ा, हाथी, ऊंट आदि की सवारी मत कर ॥१६॥ गाम में निवास, जूता और छत्र का धारण मत कर ॥१७॥ लघुशङ्का के विना उपस्थ इन्द्रिय के स्पर्श से वीर्यस्खलन कभी न करके, वीर्य को शरीर में रखके निरन्तर ऊर्ध्वरेता अर्थात् नीचे वीर्य को मत गिरने दे, इस प्रकार यत्न से वर्ता कर ॥१८॥ तैलादि से अङ्गमर्दन, उबटना, अतिखट्टा इमली आदि, अतितीखा लालमिर्ची आदि, कसेला हरड़ें आदि, क्षार अधिक लवण आदि और रेचक जमालगोटा आदि द्रव्यों का सेवन मत कर ॥१९॥ नित्य युक्ति से आहार-विहार करके विद्या ग्रहण में यत्नशील हो ॥२०॥ सुशील, थोड़ा बोलनेवाला, सभा में बैठनेयोग्य गुण ग्रहण कर ॥२१॥ मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण, प्रातःसायं आचार्य को नमस्कार करना ये तेरे नित्य करने के कर्म, और जो निषेध किये वे नित्य न करने के हैं ॥२२॥

जब यह उपदेश पिता कर चुके, तब बालक पिता को नमस्कार कर, हाथ जोड़ के कहे कि—'जैसा आपने उपदेश किया, वैसा ही करूँगा ।'

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके, कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रहके, माता-पिता, भाई-बहिन, मामा, मौसी, चाचा आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें, उन से भिक्षा** मांगे और जितनी

---

* स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास और समागम, यह आठ प्रकार का मैथुन कहाता है, जो इन को छोड़ देता है, वही ब्रह्मचारी होता है ।

** ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो "भवान् भिक्षां ददातु", और जो स्त्री से मांगे तो "भवती भिक्षां ददातु", और क्षत्रिय का बालक "भिक्षां भवान् ददातु" और स्त्री से "भिक्षां भवती ददातु", वैश्य का बालक "भिक्षां ददातु भवान्" और "भिक्षां ददातु भवती" ऐसा वाक्य बोले ।

भिक्षा मिले, उसे आचार्य के आगे धर देनी । तत्पश्चात् आचार्य उस में से कुछ थोड़ा सा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे । और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिये रख छोड़े ।

तत्पश्चात् बालक को शुभासन पर बैठाके पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान को करना । तत्पश्चात् बालक पूर्व रक्खी हुई भिक्षा का भोजन करे । पश्चात् सायंकाल तक विश्राम और **गृहाश्रम-संस्कार में लिखा सन्ध्योपासन आचार्य बालक के हाथ से करावे ।**

और पश्चात् ब्रह्मचारी सहित आचार्य कुण्ड के पश्चिम भाग में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे और स्थालीपाक अर्थात् पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे भात बना, उस में घी डाल पात्र में रख पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे समिदाधान कर, पुनः समिधा प्रदीप्त कर आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, दोनों मिलके ८ आठ आज्याहुति देनी ।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी खड़ा होके पृष्ठ ७१ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अग्ने सुश्रवः)** इस मन्त्र से ३ तीन समिधा की आहुति देवे । तत्पश्चात् बालक बैठके यज्ञकुण्ड के अग्नि से अपना हाथ तपा, पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे पूर्ववत् मुख का स्पर्श करके अङ्गस्पर्श करना ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे बनाये हुए भात को बालक आचार्य को होम और भोजन के लिए देवे । पुनः आचार्य उस भात में से आहुति के अनुमान भात को स्थाली में लेके, उस में घी मिला—

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा ॥ इदं सदसस्पतये इदन्न मम ॥१॥
ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा ॥ इदं सवित्रे इदन्न मम ॥२॥
ओम् ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ इदम् ऋषिभ्यः इदन्न मम ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों से तीन और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं यदस्य कर्मणो०)** इस मन्त्र से चौथी आहुति देवे । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में **(ओं त्वन्नो०)** इन ८ आठ मन्त्रों से ८ आठ आज्याहुति मिलके १२ बारह आज्याहुति देके ब्रह्मचारी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठके, पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान आचार्य के साथ करके—

'अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहं भो भवन्तमभिवादये ॥'

ऐसा वाक्य बोलके आचार्य का वन्दन करे । और आचार्य—

'आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य ॥'

ऐसा आशीर्वाद देके, पश्चात् होम से बचे हुए हविष्य अन्न और दूसरे भी सुन्दर मिष्टान्न का भोजन आचार्य के साथ अर्थात् पृथक्-पृथक् बैठके करें ।

तत्पश्चात् हस्त मुख प्रक्षालन करके, संस्कार में निमन्त्रण से जो आये हों, उन्हें यथायोग्य भोजन करा, तत्पश्चात् स्त्रियों को स्त्री और पुरुषों को पुरुष प्रीतिपूर्वक विदा करें और सब जने बालक को निम्नलिखित—

'हे बालक ! त्वमीश्वरकृपया विद्वान् शरीरात्मबलयुक्तः कुशली वीर्यवान् अरोगः सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः ॥'

ऐसा आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को चले जायें ।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी ३ तीन दिन तक भूमि में शयन, प्रातः सायं पृष्ठ ७१ में लिखे प्रमाणे (**अग्ने सुश्रवः०**) इस मन्त्र से समिधा होम और पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे मुख आदि अङ्गस्पर्श आचार्य करावे तथा ३ तीन दिन तक (**सदसस्पति०**) इत्यादि पृष्ठ ७६ में लिखे प्रमाणे ४ चार स्थालीपाक की आहुति पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मचारी के हाथ से करवावे और ३ तीन दिन तक क्षार-लवणरहित पदार्थ का भोजन ब्रह्मचारी किया करे ।

तत्पश्चात् पाठशाला में जाके गुरु के समीप विद्याभ्यास करने के समय की प्रतिज्ञा करे तथा आचार्य भी करे ।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥१॥
इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्ति ॥२॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥३॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥४॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ॥५॥
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥६॥

—अथर्व० कां० ११ । सू० ५ ॥

संक्षेप से भाषार्थः—आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप

रखके **३ तीन रात्रिपर्यन्त गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि** सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर, उस के आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या स्थापन करने के लिये उस को धारण कर और उस को पूर्ण विद्वान् कर देता और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है, तब उस को देखने के लिए सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं ॥१॥

जो यह ब्रह्मचारी वेदारम्भ के समय तीन समिधा अग्नि में होम कर, ब्रह्मचर्य के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करके, विद्या पूर्ण करने को दृढोत्साही होता है, **वह जानो पृथिवी सूर्य और अन्तरिक्ष के सदृश सब का पालन करता है ।** क्योंकि वह समिदाधान मेखलादि चिह्नों का धारण और परिश्रम से विद्या पूर्ण करके, इस ब्रह्मचर्यानुष्ठानरूप तप से सब लोगों को सद्गुण और आनन्द से तृप्त कर देता है ॥२॥

जब विद्या से प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके (दीर्घश्मश्रुः=)४० वर्ष तक दाढ़ी, मूंछ आदि पञ्च केशों का धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, वह पूर्व समुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तर समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है। वह सब लोकों का संग्रह करके वारंवार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है ॥३॥

वही राजा उत्तम होता है, जो पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप तपश्चरण से पूर्ण विद्वान् सुशिक्षित, सुशील, जितेन्द्रिय होकर राज्य का विविध प्रकार से पालन करता है और वही विद्वान् ब्रह्मचारी की इच्छा करे और आचार्य हो सकता है, जो यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है ॥४॥

जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़, पूर्ण जवान होके ही अपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़, पूर्ण युवति हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्थावाले पति को प्राप्त होवे ॥५॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है, तभी प्रकाशमान होता, उस में सम्पूर्ण दिव्यगुण निवास करते और सब विद्वान् उस से मित्रता करते हैं । वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रज्ञा को धारण करके, सब मनुष्यों के हित के लिए सब विद्याओं का प्रकाश करता है ॥६॥

ब्रह्मचर्यकालः

इस में छान्दोग्योपनिषत् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड का प्रमाण—

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥१॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशतिवर्षाणि तत् प्रातःसवनं चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति ॥२॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥३॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्राः अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥४॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥५॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवन-मष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते॥६॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥७॥

अर्थ—जो बालक को ५ पांच वर्ष की आयु तक माता, ५ पांच से ८ आठ तक पिता, ८ आठ से ४८ अड़तालीस, ४४ चवालीस, ४० चालीस, ३६ छत्तीस, ३० तीस तक अथवा २५ पच्चीस वर्ष तक तथा कन्या को ८ आठ से २४ चौबीस, २२ बाईस, २० बीस, १८ अठारह, अथवा १६ सोलह वर्ष तक आचार्य की शिक्षा प्राप्त हो, तभी (पुरुष वा स्त्री) विद्यावान् होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के व्यवहारों में अतिचतुर होते हैं ॥१॥

यह मनुष्य देह यज्ञ अर्थात् अच्छे प्रकार इस को आयु बल आदि से सम्पन्न करने के लिये छोटे से छोटा यह पक्ष है कि २४ चौबीस

वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य पुरुष और १६ वर्ष तक स्त्री ब्रह्मचर्याश्रम यथावत् पूर्ण, जैसे २४ चौबीस अक्षर का गायत्री छन्द होता है, वैसे करे, वह प्रातःसवन कहाता है । जिस से इस मनुष्य देह के मध्य वसुरूप प्राण प्राप्त होते हैं, जो बलवान् होकर सब शुभ गुणों को शरीर आत्मा और मन के बीच वास कराते हैं ॥२॥

जो कोई इस २५ पच्चीस वर्ष के आयु से पूर्व ब्रह्मचारी को विवाह वा विषयभोग करने का उपदेश करे, उस को वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि—देख, यदि मेरे प्राण मन और इन्द्रिय २५ पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य से बलवान् न हुए तो मध्यम सवन जो कि आगे ४४ चवालीस वर्ष तक का ब्रह्मचर्य कहा है, उस को पूर्ण करने के लिये मुझ में सामर्थ्य न हो सकेगा किन्तु प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य को सिद्ध करता है। इसलिये क्या मैं तुम्हारे सदृश मूर्ख हूं कि जो इस शरीर प्राण अन्तःकरण और आत्मा के संयोगरूप सब शुभ गुण, कर्म और स्वभाव के साधन करनेवाले इस संघात को शीघ्र नष्ट करके अपने मनुष्य देह धारण के फल से विमुख रहूं ? और सब आश्रमों के मूल, सब उत्तम कर्मों में उत्तम कर्म, और सब के मुख्य कारण ब्रह्मचर्य को खण्डित करके महादुःखसागर में कभी डूबूं ? किन्तु जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य करता है, वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त होके निश्चित रोगरहित होता है । इसलिये तुम मूर्ख लोगों के कहने से ब्रह्मचर्य का लोप मैं कभी न करूंगा ॥३॥

और जो ४४ चवालीस वर्ष तक अर्थात् जैसा ४४ चवालीस अक्षर का त्रिष्टुप् छन्द होता है, तद्वत् जो मध्यम ब्रह्मचर्य करता है, वह ब्रह्मचारी रुद्ररूप प्राणों को प्राप्त होता है, कि जिस के आगे किसी दुष्ट की दुष्टता नहीं चलती । और वह सब दुष्ट कर्म करनेवालों को सदा रुलाता रहता है ॥४॥

यदि मध्यम ब्रह्मचर्य के सेवन करनेवाले से कोई कहे कि तू इस ब्रह्मचर्य को छोड़ विवाह करके आनन्द को प्राप्त हो, उस को ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि—जो सुख अधिक ब्रह्मचर्याश्रम के सेवन से होता, **और विषय-सम्बन्धी भी अधिक आनन्द होता है, वह ब्रह्मचर्य को न करने से स्वप्न में भी नहीं प्राप्त होता ।** क्योंकि सांसारिक व्यवहार, विषय और परमार्थ सम्बन्धी पूर्ण सुख को ब्रह्मचारी ही प्राप्त होता है, अन्य कोई नहीं । इसलिए मैं इस सर्वोत्तम सुख-प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य का लोप न करके विद्वान्, बलवान्, आयुष्मान्, धर्मात्मा

होके सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होऊंगा । तुम्हारे निर्बुद्धियों के कहने से शीघ्र विवाह करके स्वयम् और अपने कुल को नष्ट-भ्रष्ट कभी न करूंगा ।।५।।

अब ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त, जैसा कि ४८ अड़तालीस अक्षर का जगती छन्द होता है, वैसे इस उत्तम ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या, पूर्ण बल, पूर्णप्रज्ञा, पूर्ण शुभ गुण, कर्म, स्वभावयुक्त, सूर्यवत् प्रकाशमान होकर ब्रह्मचारी सब विद्याओं को ग्रहण करता है ।।६।।

यदि कोई इस सर्वोत्तम धर्म से गिराना चाहे, उस को ब्रह्मचारी उत्तर देवे कि—अरे छोकरों के छोकरे ! मुझ से दूर रहो। तुम्हारे दुर्गन्ध रूप भ्रष्ट वचनों से मैं दूर रहता हूं । मैं इस उत्तम ब्रह्मचर्य का लोप कभी न करूंगा । इस को पूर्ण करके सर्व रोगों से रहित, सर्वविद्यादि शुभ गुण, कर्म, स्वभाव सहित होऊंगा । इस मेरी शुभ प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करे । जिस से मैं तुम निर्बुद्धियों को उपदेश और विद्या पढ़ाके विशेष तुम्हारे बालकों को आनन्दयुक्त कर सकूं ।।७।।

चतस्त्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति । तत्राषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनम् आ चत्वारिंशतस्सम्पूर्णता । ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ।।१।।

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ।।२।।

—यह धन्वन्तरि जी कृत सुश्रुतग्रन्थ का प्रमाण है ।।

अर्थ—इस मनुष्य देह की ४ चार अवस्था हैं—एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी सम्पूर्णता, चौथी किञ्चित् परिहाणि करनेहारी अवस्था है। इन में १६ सोलहवें वर्ष से आरम्भ २५ पच्चीसवें वर्ष में पूर्ति वाली वृद्धि की अवस्था है । जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा, वह कुहाड़े से काटे वृक्ष वा दण्डे से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश करके पश्चात्ताप करेगा । पुनः उस के हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा । दूसरी जो युवावस्था उस का आरम्भ २५ पच्चीसवें वर्ष से और पूर्ति ४० चालीसवें वर्ष में होती है । जो कोई इस को यथावत् संरक्षित न कर रक्खेगा, वह अपनी भाग्यशालीनता को नष्ट कर देवेगा। और तीसरी पूर्ण युवावस्था ४० चालीसवें वर्ष में होती है । जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ॠतुगामी, परस्त्रीत्यागी, एकस्त्रीव्रत, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा, वह भी बना-बनाया धूल में मिल जाएगा और चौथी ४० चालीसवें वर्ष से यावत् निर्वीर्य न हो, तावत् किञ्चित्

हानिरूप अवस्था है । यदि किञ्चित् हानि के बदले वीर्य की अधिक हानि करेगा, वह भी राजयक्ष्मा और भगन्दरादि रोगों से पीड़ित हो जाएगा और जो इन चारों अवस्थाओं को यथोक्त सुरक्षित रक्खेगा, वह सर्वदा आनन्दित होकर सब संसार को सुखी कर सकेगा ।।१।।

अब इस में इतना विशेष समझना चाहिए कि स्त्री और पुरुष के शरीर में पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं का एक–सा समय नहीं है, किन्तु जितना सामर्थ्य २५ पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है, उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर में १६ सोलहवें वर्ष में हो जाता है । यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहें तो २५ वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्यवाले होते हैं । इसलिए इस अवस्था में जो विवाह करना, वह अधम विवाह है ।।२।।

और जो १७ सत्रह वर्ष की स्त्री और ३० वर्ष का पुरुष, १८ अठारह वर्ष की स्त्री और ३६ वर्ष का पुरुष, १९ उन्नीस वर्ष की स्त्री और ३८ वर्ष का पुरुष विवाह करे तो इस को मध्यम समय जानो ।

और जो २० बीस, २१ इक्कीस, २२ बाईस, २३ तेईस वा २४ चौबीस वर्ष की स्त्री और ४० चालीस, ४२ बयालीस, ४४ चवालीस, ४६ छयालीस और ४८ अड़तालीस वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे, वह सर्वोत्तम है।

हे ब्रह्मचारिन् ! इन बातों को तू ध्यान में रख, जो कि तुझ को आगे के आश्रमों में काम आवेंगी । जो मनुष्य अपने सन्तान, कुल, सम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें, वे इन पूर्वोक्त और आगे कही हुई बातों का यथावत् आचरण करें ।।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ।।१।।
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ।।२।।
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ।।३।।
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ।।४।।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ।।५।।
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रभावदुष्टस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ।।६।।

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥७॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥८॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥९॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१०॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥११॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१२॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३॥
सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१४॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१५॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६॥
यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥१७॥
श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥१८॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥१९॥

—मनु०॥

अर्थ—कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ (मूत्र का मार्ग) हाथ, पग, वाणी—ये १० इन्द्रियां इस शरीर में हैं ॥१॥

इनमें कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाते हैं ॥२॥

ग्यारहवां इन्द्रिय मन है । **वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है, कि जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं ॥३॥**

जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता, वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करनेवाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों को रोकने में सदा प्रयत्न किया करे ॥४॥

ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसन्देह दोषी हो जाता है और उन पूर्वोक्त १० दश इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है ॥५॥

जिस का ब्राह्मणपन (सम्मान नहीं चाहना वा इन्द्रियों को वश में रखना आदि) बिगड़ा वा जिस का विशेष प्रभाव (वर्णाश्रम के गुण, कर्म) बिगड़े हैं, उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग (संन्यास) लेना, यज्ञ (अग्निहोत्रादि) करना, नियम (ब्रह्मचर्य्याश्रम आदि) करना, तप (निन्दा-स्तुति और हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहन) करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकते । इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि अपने नियम-धर्मों का यथावत् पालन करके सिद्धि को प्राप्त होवे ॥६॥

ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर, और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किञ्चित् किञ्चित् पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ॥७॥

बुद्धिमान् ब्रह्मचारी को चाहिये कि यमों का सेवन नित्य करे, केवल नियमों का नहीं । क्योंकि यमों[१] को न करता हुआ और केवल नियमों[२] का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित हो जाता है । इसलिए यम सेवनपूर्वक नियमसेवन नित्य किया करे ॥८॥

अभिवादन करने का जिसका स्वभाव, और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है, उस की अवस्था विद्या, कीर्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है । इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि आचार्य, माता-पिता, अतिथि, महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे ॥९॥

---

१. **अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।** निर्वैरता, सत्य बोलना, चोरीत्याग, वीर्यरक्षण और विषयभोग में घृणा-ये ५ पांच यम हैं ।

२. **शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।**
शौच, सन्तोष, तपः (हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहना), स्वाध्याय (वेद का पढ़ना), ईश्वरप्रणिधान (सर्वस्व ईश्वरार्पण)-ये ५ पांच नियम कहाते हैं ।

अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा, वह निश्चय करके बालक होता, और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला, विद्या पढ़ा, विद्याविचार में निपुण है, वह पिता स्थानीय होता है । क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञ जन को बालक कहा, और मन्त्रद को पिता ही कहा है । इस से प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर ज्ञानवान्, विद्यावान् अवश्य होना चाहिए ।।१०।।

धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुए अङ्गों, न धन और न बन्धुजनों से बड़प्पन माना । किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद-विवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो, वह बड़ा है । इस से ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर विद्यावान् होना चाहिए । जिस से कि संसार में बड़प्पन, प्रतिष्ठा पावें और दूसरों को उत्तर देने में अति निपुण हों ।।११।।

उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिस से इस का शिर झूल जाय, केश पक जावें, किन्तु जो जवान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है, उस को विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है । इस से ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ।।१२।।

जैसे काठ का कठपुतला हाथी वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो, वैसे बिना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है । उक्त वे हाथी, मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं । इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिए ।।१३।।

ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रक्खे और अमृत के समान अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे । अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिये भिक्षामात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ।।१४।।

द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे । जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है, इस से ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर अवश्य वेदविद्याध्ययन करे ।।१५।।

जो ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है, वह जीवता ही अपने वंश के साथ शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है। इस से ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर वेदविद्या अवश्य पढ़े ।।१६।।

जैसे फावड़ा से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त होता है, वैसे गुरु की सेवा करनेवाला पुरुष गुरुजनों ने जो पाई हुई विद्या है, उस को प्राप्त होता है । इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर गुरुजन की

सेवा कर उन से सुने और वेद पढ़े ॥१७॥

उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे । नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे । और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्रीजन का ग्रहण करे, यह नीति है । इस से गृहस्थाश्रम से पूर्व-पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर कहीं से न कहीं से उत्तम विद्या पढ़े, उत्तम धर्म सीखे । और ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे । क्योंकि ॥१८॥

विष से भी अमृत का ग्रहण करना, बालक से भी उत्तम वचन को लेना और नाना प्रकार के शिल्प काम-सब से अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहिएँ । इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर देश-देश पर्यटन कर उत्तम गुण सीखे ॥१९॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्॥१॥

—तैत्तिरी० प्रपा० ७ । अनु० ११॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्म भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥२॥

—तैत्तिरी० प्रपा० १० । अनु० ८॥

अर्थ—हे शिष्य ! जो आनन्दित, पापरहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरण-रहित, न्याय धर्माचरणसहित कर्म हैं, उन्हीं का सेवन तू किया करना, इन से विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना । हे शिष्य ! जो तेरे माता-पिता आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्मयुक्त उत्तम कर्म हैं, उन्हीं का आचरण तू कर । और जो हमारे दुष्ट कर्म हों, उनका आचरण कभी मत कर । हे ब्रह्मचारिन् ! जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् हैं, उन्हीं के समीप बैठना, सङ्ग करना, और उन्हीं का विश्वास किया कर ॥१॥

हे शिष्य ! तू जो यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्यशास्त्रों का सुनना, अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना, विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का सङ्ग कर । जितने भूमि, अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में पदार्थ हैं, उन का यथाशक्ति ज्ञान कर । और योगाभ्यास, प्राणायाम, एक ब्रह्म परमात्मा की उपासना कर । ये सब कर्म करना ही तप कहाता है ॥२॥

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्या० । दमश्च स्वाध्या० । शमश्च स्वाध्या० । अग्नयश्च स्वाध्या० । अग्निहोत्रं च स्वाध्या० । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥३॥

—तैत्तिरी० प्रपा० ७। अनु० ९ ॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारिन् ! तू सत्य धारण कर, पढ़ और पढ़ाया कर और सत्योपदेश करना कभी मत छोड़ । सदा सत्य बोल पढ़ और पढ़ाया कर । हर्ष–शोकादि छोड़, प्राणायाम योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर । अपने इन्द्रियों को बुरे कामों से हटा अच्छे कामों में चला, विद्या का ग्रहण कर और कराया कर । अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और करा तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर । अग्निविद्या के सेवनपूर्वक विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर । अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर । 'सत्यवादी होना तप'—**सत्यवचा राथीतर आचार्य;** 'न्यायाचरण में कष्ट सहना तप'—**तपोनित्य पौरुशिष्टि आचार्य;** 'और धर्म में चलके पढ़ना–पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है' यह नाक **मौद्गल्य** आचार्य का मत है । और सब आचार्यों के मत में यही पूर्वोक्त तप, यही पूर्वोक्त तप है, ऐसा तू जान ॥३॥

इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे।

तत्पश्चात् घर को छोड़ गुरुकुल में जावे । यदि पुत्र हो तो पुरुषों की पाठशाला और कन्या हो तो स्त्रियों की पाठशाला में भेजें । यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री, पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारणशिक्षा १ एक महीने के भीतर पढ़ा देवें । पुनः पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी का पाठ पदच्छेद अर्थसहित ८ आठ महीने में, अथवा १ एक वर्ष में पढ़ा कर, धातुपाठ और १० दश लकारों के रूप सधवाना तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी । पुनः पाणिनिमुनिकृत लिङ्गानुशासन और उणादि, गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्ययाद्यन्त सुबन्तरूप छः ६ महीने के भीतर सधवा देवें । पुनः दूसरी वार अष्टाध्यायी पदार्थोक्ति समास शङ्का–समाधान उत्सर्ग अपवाद* अन्वयपूर्वक पढ़ावें । और संस्कृतभाषण

* जिस सूत्र का अधिक विषय हो वह उत्सर्ग और जो किसी सूत्र के बड़े विषय में से थोड़े विषय में प्रवृत्त हो वह अपवाद कहाता है ।

का भी अभ्यास कराते जायें। ८ आठ महीने के भीतर इतना पढ़ना–पढ़ाना चाहिए ।

तत्पश्चात् पतञ्जलि मुनिकृत महाभाष्य, जिस में वर्णोच्चारणशिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिगण, लिङ्गानुशासन इन ६ छः ग्रन्थों की व्याख्या यथावत् लिखी है, डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८ अठारह महीने में इस को पढ़ना–पढ़ाना। इस प्रकार शिक्षा और व्याकरणशास्त्र को ३ तीन वर्ष ५ पांच महीने वा नौ महीने, अथवा ४ वर्ष के भीतर पूरा कर सब संस्कृतविद्या के मर्मस्थलों को समझने के योग्य होवे ।

तत्पश्चात् यास्कमुनिकृत निघण्टु, निरुक्त तथा कात्यायनादि मुनिकृत कोश १॥ डेढ़ वर्ष के भीतर पढ़के, अव्ययार्थ आप्तमुनिकृत वाच्यवाचक सम्बन्ध रूप *यौगिक, योगरूढ़ि और रूढ़ि तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ यथावत् जानें । तत्पश्चात् पिङ्गलाचार्यकृत पिङ्गलसूत्र छन्दोग्रन्थ भाष्यसहित ३ तीन महीने में पढ़ और ३ तीन महीने में श्लोकादिरचनविद्या को सीखें । पुनः यास्कमुनिकृत काव्यालङ्कारसूत्र, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ अन्वयसहित पढ़के, इसी के साथ मनुस्मृति, विदुरनीति और किसी प्रकरण में से १० सर्ग वाल्मीकीय रामायण के, ये सब १ एक वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें । तथा १ एक वर्ष में सूर्यसिद्धान्तादि में से कोई १ एक सिद्धान्त से गणितविद्या, जिस में बीजगणित, रेखागणित और पाटीगणित, जिस को अङ्कगणित भी कहते हैं, पढ़ें और पढ़ावें । निघण्टु से लेके ज्योतिष पर्यन्त वेदाङ्गों को ४ चार वर्ष के भीतर पढ़ें ।

तत्पश्चात् जैमिनिमुनिकृत सूत्र पूर्वमीमांसा को व्यासमुनिकृत व्याख्यासहित, कणादमुनिकृत वैशेषिकसूत्ररूप शास्त्र को गौतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यसहित, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित गौतममुनिकृत सूत्ररूप न्यायशास्त्र, व्यासमुनि कृतभाष्यसहित, पतञ्जलिमुनिकृत योगसूत्र योगशास्त्र, भागुरिमुनिकृत भाष्ययुक्त कपिलाचार्यकृत सूत्रस्वरूप सांख्यशास्त्र, जैमिनि वा बौद्धायन आदि मुनिकृत व्याख्यासहित व्यासमुनिकृत शारीरकसूत्र तथा ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक १० दश उपनिषद्, व्यासादिमुनिकृत व्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र, इन ६ छः शास्त्रों को २ दो वर्ष के भीतर पढ़ लेवें ।

---

* यौगिक–जो क्रिया के साथ सम्बन्ध रक्खे । जैसे पाचक याजकादि । योगरूढ़ि–जैसे पङ्कजादि । रूढ़ि–जैसे धन, वन इत्यादि ।

तत्पश्चात् बह्वृच् ऐतरेय ऋग्वेद का ब्राह्मण, आश्वलायनकृत श्रौत तथा गृह्यसूत्र* और कल्पसूत्र पदक्रम और व्याकरणादि के सहाय से छन्दः, स्वर, पदार्थ, अन्वय, भावार्थसहित ऋग्वेद का पठन ३ तीन वर्ष के भीतर करें । इसी प्रकार यजुर्वेद को शतपथब्राह्मण और पदादि के सहित २ दो वर्ष तथा सामब्राह्मण और पदादि तथा गान सहित सामवेद को २ दो वर्ष तथा गोपथ ब्राह्मण और पदादि के सहित अथर्ववेद को २ दो वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें । सब मिलके ९ नौ वर्षों के भीतर ४ चारों वेदों को पढ़ना और पढ़ाना चाहिए ।

पुनः ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, जिस को वैद्यकशास्त्र कहते हैं, जिस में धन्वन्तरि जी कृत सुश्रुत और निघण्टु तथा पतञ्जलि मुनिकृत चरक आदि आर्षग्रन्थ हैं, इन को ३ तीन वर्ष के भीतर पढ़ें । जैसे सुश्रुत में शस्त्र लिखे हैं, बनाकर शरीर के सब अवयवों को चीर के देखें तथा जो उस में शारीरिकादि विद्या लिखी है, साक्षात् करें ।

तत्पश्चात् यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, जिस को शस्त्रास्त्रविद्या कहते हैं, जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं, जो इस समय बहुधा नहीं मिलते, ३ तीन वर्ष में पढ़ें और पढ़ावें ।

पुनः सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद, जिस में नारदसंहितादि ग्रन्थ हैं, उन को पढ़के स्वर, राग, रागिणी, समय, वादित्र, ग्राम, ताल, मूर्च्छना आदि का अभ्यास यथावत् ३ तीन वर्ष के भीतर करें ।

तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद, जिस को शिल्पशास्त्र कहते हैं, जिस में विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं, उन को ६ छः वर्ष के भीतर पढ़के विमान, तार, भूगर्भादि विद्याओं को साक्षात् करें ।

ये शिक्षा से लेके आयुर्वेद तक १४ चौदह विद्याओं को **३१ इकत्तीस** वर्षों में पढ़के महाविद्वान् होकर अपने और सब जगत् के कल्याण और उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें ।

॥ इति वेदारम्भसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

---

* ब्राह्मण वा जो सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो, उस का प्रमाण न करना।

[१२]

अथ समावर्त्तनसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'समावर्त्तनसंस्कार' उस को कहते हैं कि जिस में ब्रह्मचर्यव्रत, साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या, उत्तमशिक्षा और पदार्थविज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विवाह विधानपूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़के घर की ओर आना । इस में प्रमाण—

वेदसमाप्तिं वाचयीत ॥

कल्याणैः सह सम्प्रयोगः ॥

स्नातकायोपस्थिताय । राज्ञे च । आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च । दधनि मध्वानीय । सर्पिर्वा मध्वलाभे । विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कः ॥ —यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है ।

तथा पारस्करगृह्यसूत्र—

वेदꣳ समाप्य स्नायाद् । ब्रह्मचर्यं वाष्टाचत्वारिꣳशकम् ।

त्रय एव स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ॥

अर्थ—जब वेदों की समाप्ति हो, तब समावर्त्तनसंस्कार करे। सदा पुण्यात्मा पुरुषों के सब व्यवहारों में साझा रखे । राजा, आचार्य, श्वसुर, चाचा और मामा आदि का अपूर्वागमन जब हो और स्नातक अर्थात् जब विद्या और ब्रह्मचर्य पूरण करके ब्रह्मचारी घर को आवे, तब प्रथम पाद्यम्=पग धोने का जल, अर्घ्यम्=मुखप्रक्षालन के लिये जल, और आचमन के लिये जल देके शुभासन पर बैठा, दही में मधु अथवा सहत न मिले तो घी मिलाके, एक अच्छे पात्र में धर इन को मधुपर्क देना होता है और विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक ये तीन* प्रकार के स्नातक होते हैं । इस कारण वेद की समाप्ति और ४८ अड़तालीस

* जो केवल विद्या को समाप्त तथा ब्रह्मचर्य व्रत को न समाप्त करके स्नान करता है वह विद्यास्नातक । जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त तथा विद्या को न समाप्त करके स्नान करता है वह व्रतस्नातक । और जो विद्या तथा ब्रह्मचर्य-व्रत दोनों को समाप्त करके स्नान करता है वह विद्याव्रतस्नातक कहाता है।

वर्ष का ब्रह्मचर्य समाप्त करके ब्रह्मचारी विद्याव्रत स्नान करे ।

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे । स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥

—अथर्व०का० ११। प्रपा० २४। व० १६। मं० २६॥

अर्थ—जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर, बड़े उत्तम व्रत—ब्रह्मचर्य में निवास कर महातप को करता हुआ वेदपठन, वीर्यनिग्रह, आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर पश्चात् पृ० ९२ में लिखे अनुसार स्नानविधि करके पूर्ण विद्याओं को धरता, सुन्दर वर्णयुक्त होके पृथिवी में अनेक शुभ गुण, कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होता है, वही धन्यवाद के योग्य है ।

इस का समय—पृष्ठ ७९-८२ तक में लिखे प्रमाणे जानना, परन्तु जब विद्या, हस्तक्रिया, ब्रह्मचर्यव्रत भी पूरा होवे, तभी गृहाश्रम की इच्छा स्त्री और पुरुष करें । विवाह के स्थान दो हैं—एक आचार्य का घर, दूसरा अपना घर । दोनों ठिकानों में से किसी एक ठिकाने आगे विवाह में लिखे प्रमाणे सब विधि करे। इस संस्कार का विधि पूरा करके पश्चात् विवाह करे ।

विधि—जो शुभ दिन समावर्त्तन का नियत करे, उस दिन आचार्य के घर में पृष्ठ १२-१३ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड आदि बनाके सब शाकल्य और सामग्री संस्कारदिन से पूर्व दिन में जोड़ रखे । और स्थालीपाक* बनाके तथा घृतादि और पात्रादि यज्ञशाला में वेदी के समीप रक्खे । पुनः पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे यथावत् ४ चारों दिशाओं में आसन बिछा बैठ, पृष्ठ ४ से पृष्ठ ११ तक में **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** करे । और जितने वहां पुरुष आये हों, वे भी एकाग्रचित्त होके ईश्वर के ध्यान में मग्न होवें । तत्पश्चात् पृष्ठ १८-१९ में लिखे **अग्न्याधान, समिदाधान** करके पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर उदक-सेचन करके आसन पर पूर्वाभिमुख आचार्य बैठके पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति** ८ आठ और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **स्विष्टकृत्** आहुति १ एक और **प्राजापत्याहुति** १ एक—ये सब मिलके १८ अठारह आज्याहुति देनी । तत्पश्चात् ब्रह्मचारी

* जो कि पूर्व पृष्ठ १४ में लिखे प्रमाणे भात आदि बनाकर रखना ।

पृ० ७१ में लिखे **(ओम् अग्ने सुश्रवः०)** इस मन्त्र से कुण्ड का अग्नि कुण्ड के मध्य में इकट्ठा करे। तत्पश्चात् पृ० ७१ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अग्नये समिध०)** इस मन्त्र से कुण्ड में ३ तीन समिधा होमकर, पृ० ७१ में लिखे प्रमाणे **(ओं तनूपा०)** इत्यादि ७ सात मन्त्रों से दक्षिण हस्ताञ्जलि आगी पर थोड़ी सी तपा, उस जल से मुखस्पर्श, और तत्पश्चात् पृ० ७१-७२ में लिखे प्रमाणे **(ओं वाक् च म०)** इत्यादि मन्त्रों से उक्त प्रमाणे अङ्गस्पर्श करे। पुनः सुगन्धादि औषधयुक्त जल से भरे हुए ८ आठ घड़े वेदी के उत्तरभाग में जो पूर्व से रक्खे हुए हों, उन घड़ों में से—

ओं ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदुषुरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि॥

इस मन्त्र को पढ़, एक घड़े को ग्रहण करके, उस घड़े में से जल लेके—

ओं तेन मामभिसिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय॥

इस मन्त्र को बोलके स्नान करना। तत्पश्चात् उपरिकथित **(ओं ये अप्स्वन्तर०)** इस मन्त्र को बोलके दूसरे घड़े को ले, उस में से लोटे में जल लेके—

ओं येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताꣳ सुराम्।
येनाक्ष्यावभ्यसिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः॥

इस मन्त्र को बोलके स्नान करना।

तत्पश्चात् पूर्ववत् ऊपर के **(ओं ये अप्स्वन्तर०)** इसी मन्त्र का पाठ बोलके वेदी के उत्तर में रखे घड़ों में से ३ तीन घड़ों को लेके पृष्ठ ६६ में लिखे हुए **(ओम् आपो हि ष्ठा०)** इन ३ तीन मन्त्रों को बोलके, उन घड़ों के जल से स्नान करना। तत्पश्चात् ८ आठ घड़ों में से रहे हुए ३ तीन घड़ों को लेके **(ओम् आपो हि ष्ठा०)** इन्हीं ३ तीन मन्त्रों को बोलके स्नान करे। पुनः—

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳ श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽ अदितये स्याम॥

इस मन्त्र को बोलके ब्रह्मचारी अपनी मेखला और दण्ड को छोड़े। तत्पश्चात् वह स्नातक ब्रह्मचारी सूर्य के सम्मुख खड़ा रहकर—

ओम् उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थाद् दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय। उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो

मरुद्भिरस्थाद् दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय । उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावभिरस्थात् सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय ॥

इस मन्त्र से परमात्मा का उपस्थान स्तुति करके, तत्पश्चात् दही वा तिल प्राशन करके, जटा लोम और नख वपन अर्थात् छेदन कराके—

ओम् अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजायमागमत् ।
स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च ॥

इस मन्त्र को बोलके ब्रह्मचारी उदुम्बर की लकड़ी से दन्तधावन करे । तत्पश्चात् सुगन्धि द्रव्य शरीर पर मलके शुद्ध जल से स्नान कर, शरीर को पोंछ, अधोवस्त्र अर्थात् धोती वा पीताम्बर धारण करके, सुगन्ध युक्त चन्दनादि का अनुलेपन करे । तत्पश्चात् चक्षु, मुख और नासिका के छिद्रों का—

ओं प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय ॥

इस मन्त्र से स्पर्श करके हाथ में जल ले, अपसव्य और दक्षिणमुख होके—

ओं पितरः शुन्धध्वम् ॥

इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़के, सव्य होके—

ओं सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन ।
सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम् ॥

इस मन्त्र का जप करके—

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि ।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥

इस मन्त्र से सुन्दर अति श्रेष्ठ वस्त्र धारण करके—

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती ।
यशो भगश्च मा विदद् यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥

इस मन्त्र से उत्तम उपवस्त्र धारण करके,

ओं या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामायेन्द्रियाय ।
ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च ॥

इस मन्त्र से सुगन्धित पुष्पों की माला लेके—

ओं यद्यशोप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु ।
तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयि ॥

इस मन्त्र से धारण करनी । पुनः शिरोवेष्टन अर्थात् पगड़ी दुपट्टा और टोपी आदि अथवा मुकुट हाथ में लेके पृष्ठ ६७ में लिखे प्रमाणे **(युवा सुवासाः०)** इस मन्त्र से धारण करे ।

उस के पश्चात् अलङ्कार लेके—

ओम् अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयात् ॥

इस मन्त्र से धारण करे । और—

ओं वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥

इस मन्त्र से आँख में अञ्जन करना । तत्पश्चात्—

ओं रोचिष्णुरसि ॥

इस मन्त्र से दर्पण में मुख अवलोकन करे । तत्पश्चात्—

ओं बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहि ॥

इस मन्त्र से छत्र धारण करे । पुनः—

ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम् ॥

इस मन्त्र से उपानह्=पादवेष्टन=पगरखा और जिस को जोड़ा भी कहते हैं, धारण करे । तत्पश्चात्—

ओं विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः ॥

इस मन्त्र से बांस आदि की एक सुन्दर लकड़ी हाथ में धारण करनी ।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के माता-पिता आदि, जब वह आचार्य कुल से अपना पुत्र घर को आवे, उस को बड़े मान्य प्रतिष्ठा उत्सव उत्साह से अपने घर पर ले आवें । घर पर लाके उसके पिता-माता सम्बन्धी बन्धु आदि ब्रह्मचारी का सत्कार पृ० ९० में लिखे प्रमाणे करें ।

पुनः उस संस्कार में आये हुए आचार्य आदि को उत्तम अन्न-पानादि से सत्कारपूर्वक भोजन कराके, और वह ब्रह्मचारी और उस के पिता-मातादि आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा, पूर्वोक्त प्रकार मधुपर्क कर, सुन्दर पुष्पमाला, वस्त्र, गोदान, धन आदि की दक्षिणा यथाशक्ति देके, सब के सामने आचार्य के जो कि उत्तम गुण हों, उन की प्रशंसा कर और विद्यादान की कृतज्ञता सब को सुनावें—

'सुनो भद्रजनो ! इस महाशय आचार्य ने मेरे पर बड़ा उपकार किया है । जिस ने मुझ को पशुता से छुड़ा उत्तम विद्वान् बनाया है, उस का

प्रत्युपकार मैं कुछ भी नहीं कर सकता। इस के बदले में अपने आचार्य को अनेक धन्यवाद दे, नमस्कार कर प्रार्थना करता हूं कि जैसे आपने मुझ को उत्तम शिक्षा और विद्यादान देके कृत-कृत्य किया, उसी प्रकार अन्य विद्यार्थियों को भी कृतकृत्य करेंगे। और जैसे आपने मुझ को विद्या देके आनन्दित किया है, वैसे मैं भी अन्य विद्यार्थियों को कृतकृत्य और आनन्दित करता रहूंगा, और आपके किये उपकार को कभी न भूलूंगा।

सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर आप मुझ और सब पढ़ने-पढ़ानेहारे तथा सब संसार पर अपनी कृपा-दृष्टि से सब को सभ्य, विद्वान्, शरीर और आत्मा के बल से युक्त, और परोपकारादि शुभ कर्मों की सिद्धि करने-कराने में चिरायु स्वस्थ पुरुषार्थी उत्साही करें कि जिस से इस परमात्मा की सृष्टि में उस के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभावों को करके धर्मार्थ काम और मोक्ष की सिद्धि कर-कराके सदा आनन्द में रहें ॥'

॥ इति समावर्त्तनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[१३]

अथ विवाहसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'विवाह' उसे कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत से विद्या बल को प्राप्त तथा सब प्रकार से शुभ गुण, कर्म, स्वभावों में तुल्य, परस्पर प्रीतियुक्त होके निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है । इसमें प्रमाण—

उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे* चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः ॥१॥

सार्वकालमेके विवाहम् ॥२॥ यह आश्वलायन गृह्यसूत्र और—

आवसथ्याधानं दारकाले ॥३॥ इत्यादि पारस्कर और—

पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥४॥

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन ॥५॥ इत्यादि गोभिलीय गृह्यसूत्र और इसी प्रकार शौनक गृह्यसूत्र में भी है ॥

अर्थ—उत्तरायण शुक्लपक्ष अच्छे दिन अर्थात् जिस दिन प्रसन्नता हो, उस दिन विवाह करना चाहिये ॥१॥

और कितने ही आचार्यों का ऐसा मत है कि सब काल में विवाह करना चाहिये ॥२॥

जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है, उस का 'आवसथ्य' नाम है ॥३॥

प्रसन्नता के दिन स्त्री का पाणिग्रहण, जो कि स्त्री सर्वथा शुभ गुणादि से उत्तम हो, करना चाहिये ॥४-५॥

इस का समय—पृष्ठ ७९-८२ तक में लिखे प्रमाणे जानना चाहिए । वधू और वर का आयु, कुल, वास्तव स्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करनेवाले हों । स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून से न्यून ड्योढ़ी और अधिक से अधिक दूनी होवे । परस्पर कुल की परीक्षा भी करनी चाहिये । इसमें प्रमाण—

---

* यह नक्षत्रादि का विचार कल्पनायुक्त है, इस से प्रमाण नहीं ।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥१॥
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥२॥
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥३॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥४॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥५॥
नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥६॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥७॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥८॥
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥९॥
आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥१०॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥११॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥१२॥
सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥१३॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं विधिवद् आसुरो धर्म उच्यते ॥१४॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥१५॥

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥१६॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥१७॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥१८॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥१९॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥२०॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥२१॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य से ४ चार, ३ तीन, २ दो अथवा १ एक वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम का धारण करे ॥१॥

यथावत् उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर, गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री से विवाह करे ॥२॥

जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, वही द्विजों के लिए विवाह करने में उत्तम है ॥३॥

विवाह में नीचे लिखे हुए १० दश कुल, चाहे वे गाय आदि पशु, धन और धान्य से कितने ही बड़े हों, उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे ॥४॥

वे १० दश कुल ये हैं । १ एक—जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो । २ दूसरा—जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो । ३ तीसरा—जिस कुल में कोई विद्वान् न हो । ४ चौथा—जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े-बड़े लोम हों । ५ पांचवां—जिस कुल में बवासीर हो । ६ छठा—जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो । ७ सातवां—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो। ८ आठवां—जिस कुल में मृगी रोग हो । ९ नववां—जिस कुल में श्वेतकुष्ठ हो और १० दसवां—जिस कुल में गलितकुष्ठ आदि रोग हों—उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह कभी न करे ॥५॥

पीले वर्णवाली, अधिक अङ्गवाली जैसी छंगुली आदि, रोगवती (रोगिणी), जिस के शरीर पर कुछ भी लोम न हों, और जिस के शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों, व्यर्थ अधिक बोलनेहारी और जिस के पीले बिल्ली के सदृश नेत्र हों ।।६।।

तथा जिस कन्या का (ऋक्ष) नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती, रोहिणी इत्यादि, **(वृक्ष) चम्पा, चमेली आदि ,** (नदी) जिस का गङ्गा, यमुना इत्यादि, **(अन्त्य) चाण्डाली आदि ,** (पर्वत) जिस का विन्ध्याचला इत्यादि, (पक्षी) पक्षी पर, अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि, (अहि) अर्थात् उरगा, भोगिनी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी इत्यादि और जिस कन्या का (भीषण) कालिका, चण्डिका इत्यादि नाम हो, उस से विवाह न करे ।।७।।

किन्तु जिस के सुन्दर अङ्ग, उत्तम नाम, हंस और हस्तिनी के सदृश चालवाली, जिस के सूक्ष्म लोम, सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दांत हों, जिस के सब अङ्ग कोमल हों, उस स्त्री से विवाह करे ।।८।।

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये विवाह आठ प्रकार के होते हैं ।।९।।

१ पहला—**ब्राह्म**—कन्या के योग्य सुशील, विद्वान् पुरुष का सत्कार करके, कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके, उत्तम पुरुष को बुला, अर्थात् जिस को कन्या ने प्रसन्न भी किया हो, उस को देना, वह **'ब्राह्म'** विवाह कहाता है ।।१०।।

२ दूसरा—**दैव**—विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों को वरण कर, उस में कर्म करनेवाले विद्वान् को वस्त्र-आभूषण आदि से कन्या को सुशोभित करके देना, वह **'दैव'** विवाह है ।।११।।

३ तीसरा—**आर्ष**—१ एक गाय, बैल का जोड़ा अथवा २ दो जोड़े* वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना, वह **'आर्ष'** विवाह है ।।१२।।

और ४ चौथा—**प्राजापत्य**—कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि करके सब के सामने तुम दोनों मिलके गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो, ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नतापूर्वक पाणिग्रहण होना, वह **'प्राजापत्य'** विवाह कहाता है । ये ४ चार विवाह उत्तम हैं ।।१३।।

और ५ पांचवाँ—वर की जातिवालों और कन्या को यथाशक्ति धन

---

* यह बात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्तिविरुद्ध भी है । इसलिये कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष' विवाह है ।

देकर होम आदि विधि कर कन्या देना, **'आसुर'** विवाह कहाता है ।।१४।।

६ छठा—वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुष हैं, यह काम से हुआ **'गान्धर्व'** विवाह कहाता है ।।१५।।

और ७ सातवाँ—हनन, छेदन अर्थात् कन्या के रोकनेवालों का विदारण कर क्रोशती, रोती, कंपती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार हरण करके विवाह करना, वह **'राक्षस'** विवाह है ।।१६।।

और [८ आठवाँ]—जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर देना, यह सब विवाहों में नीच से नीच महानीच, दुष्ट, अतिदुष्ट **'पैशाच'** विवाह है ।।१७।।

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्री-पुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं, वे वेदादिविद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के सम्मत, अत्युत्तम होते हैं ।।१८।।

वे पुत्र वा कन्या सुन्दर रूप, बल, पराक्रम, शुद्ध, बुद्ध्यादि, उत्तम गुणयुक्त, बहु धनयुक्त, पुण्यकीर्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय धर्मात्मा होकर १०० वर्ष तक जीते हैं ।।१९।।

इन ४ चार विवाहों से जो बाकी रहे ४ चार आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन ४ चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाववाले होते हैं ।।२०।।

इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती हैं, उन का त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती हैं, उन को किया करें ।।२१।।

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्विचक्षणः ।।१।।
काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ।।२।।
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ।।३।।

अर्थ—यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट शुभगुण, कर्म, स्वभाववाला, कन्या के सदृश रूपलावण्यादि गुणयुक्त वर ही को, **चाहे वह कन्या-माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो, तथापि उसी को कन्या देना, अन्य को कभी न देना कि जिस** से दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों

की उत्पत्ति करें ।।१।।

चाहे मरण-पर्यन्त कन्या पिता के घर में विना विवाह के बैठी भी रहे, परन्तु गुणहीन असदृश, दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे और वर-कन्या भी अपने आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें ।।२।।

जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे, तब रजस्वला होने के दिन से ३ तीन वर्ष को छोड़के ४ चौथे वर्ष में विवाह करे।।३।।

प्रश्न—'अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।' इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी ?

उत्तर—इन श्लोकों और इन के माननेवालों की दुर्गति, अर्थात् जो इन श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर-करा, उन को नष्ट-भ्रष्ट रोगी अल्पायु करते हैं, वे अपने कुल का जानो सत्यानाश कर रहे हैं । इसलिए यदि शीघ्र विवाह करें तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ सोलह वर्ष से न्यून कन्या और २५ पच्चीस वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करें-करावें । इस के आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे, उतना ही उन को आनन्द अधिक होगा ।

प्रश्न—विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिये?

उत्तर—'दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति ।' यह निरुक्त का प्रमाण है कि—जितना दूरदेश में विवाह होगा, उतना ही उन्हें अधिक लाभ होगा ।

प्रश्न—अपने गोत्र वा भाई-बहिनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता ?

उत्तर—एक-दोष यह है कि इन के विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती, क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है, उतनी प्रत्यक्ष में नहीं और बाल्यावस्था के गुण-दोष भी विदित रहते हैं तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते । दूसरा—जब तक दूरस्थ एक-दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती । तीसरा—दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति, उन्नति, ऐश्वर्य बढ़ता है, निकट से नहीं ।

युवावस्था ही में विवाह का प्रमाण—

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः ।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ।।१।।
अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम् ।
कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ।।२।।

अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन् ।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि ॥३॥

—ऋ०मं० २। सू० ३५ । मं० ४–६॥

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम् ।
आस्य श्रवस्याद् रथ आ च घोषात् पुरू सहस्रा परि वर्तयाते ॥४॥

—ऋ०मं० ५। सू० ३७ । मं० ३॥

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कैः ।
उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ॥५॥

—ऋ०मं० ५। सू० ४१ । मं० ७॥

अर्थ—जो (मर्मृज्यमानाः) उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त (युवतयः) बीसवें वर्ष से चौबीसवें वर्षवाली हैं, वे कन्या लोग जैसे (आपः) जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं, वैसे (अस्मेराः) हम को प्राप्त होनेवाली, अपने–अपने प्रसन्न, अपने–अपने से डेढ़े वा दूने आयुवाले, (तम्) उस ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण, शुभलक्षणयुक्त (युवानम्) जवान पति को (परियन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी (शुक्रेभिः) शुद्ध गुण और (शिक्वभिः) वीर्यादि से युक्त होके (अस्मे) हमारे मध्य में (रेवत्) अत्यन्त श्रीयुक्त कर्म को, और (दीदाय) अपने तुल्य युवती स्त्री को प्राप्त होवे। जैसे (अप्सु) अन्तरिक्ष वा समुद्र में (घृतनिर्णिक्) जल को शोधन करनेहारा (अनिध्मः) आप प्रकाशित विद्युत् अग्नि है, इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान भीतर सुप्रकाशित रहकर उत्तम सन्तान और अत्यन्त आनन्द को गृहाश्रम में दोनों स्त्री–पुरुष प्राप्त होवें ॥१॥

हे स्त्री–पुरुषो ! जैसे (तिस्रः) उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट स्वभावयुक्त, (देवीः नारीः) विद्वान् नरों की विदुषी स्त्रियां (अस्मै) इस (अव्यथ्याय) पीड़ा से रहित (देवाय) काम के लिये (अन्नम्) अन्नादि उत्तम पदार्थों को (दिधिषन्ति) धारण करती हैं, (कृता इव) की हुई शिक्षायुक्त के समान (अप्सु) प्राणवत् प्रीति आदि व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिये स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री (उप प्रसर्स्रे) सम्बन्ध को प्राप्त होती है, (सः हि) वही पुरुष और स्त्री आनन्द को प्राप्त होती है। जैसे जलों में (पीयूषम्) अमृतरूप रस को (पूर्वसूनाम्) प्रथम प्रसूत हुई स्त्रियों का बालक (धयति) दुग्ध पीके बढ़ता है, वैसे इन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी स्त्री के सन्तान यथावत् बढ़ते हैं ॥२॥

जैसे राजादि सब लोग (पूर्षु) अपने नगरों और (आमासु) अपने घर में उत्पन्न हुए पुत्र और कन्यारूप प्रजाओं में उत्तम शिक्षाओं को (परः) उत्तम विद्वान् (अप्रमृष्यम्) शत्रुओं को सहने के अयोग्य, ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुए शरीरात्मबलयुक्त देह को (अरातयः) शत्रु लोग (न) नहीं (विनशन्) विनाश कर सकते, और (अनृतानि) मिथ्याभाषणादि दुष्ट दुर्व्यसनों को प्राप्त (न) नहीं होते, वैसे उत्तम स्त्री-पुरुषों को (द्रुहः) द्रोह आदि दुर्गुण और (रिषः) हिंसा आदि पाप (न सम्पृचः) सम्बन्ध नहीं करते। किन्तु जो युवावस्था में विवाह कर प्रसन्नतापूर्वक विधि से सन्तानोत्पत्ति करते हैं, इनके (अस्य) इस (अश्वस्य) महान् गृहाश्रम के मध्य में उत्तम बालकों का (जनिम) जन्म होता है। इसलिये हे स्त्रि वा पुरुष! तू (सूरीन्) विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर। (च) और ऐसे गृहस्थों को (अत्र) इस गृहाश्रम में सदैव (स्वः) सुख बढ़ता रहता है ॥३॥

हे मनुष्यो ! (यः) जो पूर्वोक्त लक्षणयुक्त पूर्ण जवान (ईम्) सब प्रकार की परीक्षा करके (महिषीम्) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई विद्या शुभ गुणरूप सुशीलतादियुक्त (इषिराम्) वर की इच्छा करनेहारी, हृदय को प्रिय स्त्री को (एति) प्राप्त होता है, और जो (पतिम्) विवाह से अपने स्वामी की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई, (इयम्) यह (वधूः) स्त्री अपने सदृश, हृदय को प्रिय पति को (एति) प्राप्त होती है। वह पुरुष वा स्त्री (अस्य) इस गृहाश्रम के मध्य (आश्रवस्यात्) अत्यन्त विद्या धन धान्य युक्त सब ओर से होवे। और वे दोनों (रथः) रथ के समान (आघोषात्) परस्पर प्रिय वचन बोलें। (च) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं। तथा वे दोनों (पुरु) बहुत (सहस्रा) असङ्ख्य उत्तम कार्यों को (परिवर्तयाते) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं ॥४॥

हे मनुष्यो ! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ, तो वे (वन्द्येभिः) कामना के योग्य (चितयद्भिः) सब सत्य विद्याओं को जनानेहारे, (अर्कैः) सत्कार के योग्य, (शूषैः) शरीरात्मबलों से युक्त होके (वः) तुम्हारे लिये (एषे) सब सुख प्राप्त कराने को समर्थ होवें। और वे (उषासानक्ता) जैसे दिन और रात तथा जैसे (विदुषीव) विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष (विश्वम्) गृहाश्रम के सम्पूर्ण व्यवहार को (आवहतः) सब ओर से प्राप्त होते हैं, (ह) वैसे ही इस (यज्ञम्) सङ्गतरूप गृहाश्रम के व्यवहार को वे स्त्री-पुरुष पूर्ण कर सकते हैं। और (मर्त्याय) मनुष्यों के लिये यही पूर्वोक्त विवाह पूर्ण सुखदायक है। और (यह्वी) बड़े ही शुभ गुण, कर्म, स्वभाववाले स्त्री-पुरुष दोनों (दिवः) कामनाओं

को (उप प्र वहत:) अच्छे प्रकार प्राप्त हो सकते हैं, अन्य नहीं ।।५।।

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ पूर्ण जवान हो परस्पर परीक्षा करके, जिस से जिस की विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से उस का विवाह होना अत्युत्तम है । **जो कोई युवावस्था में विवाह न कराके बाल्यावस्था में अनिच्छित अयोग्य वर कन्या का विवाह करावेंगे, वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादु:खसागर में क्योंकर न डूबेंगे ?** और जो पूर्वोक्त विधि से विवाह करते-कराते हैं, **वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं ।**

प्रश्न—विवाह अपने-अपने वर्ण में होना चाहिये, वा अन्य वर्ण में भी ?

उत्तर—अपने-अपने वर्ण में । परन्तु वर्णव्यवस्था गुण, कर्मों के अनुसार होनी चाहिये, जन्ममात्र से नहीं ।

जो पूर्ण विद्वान् धर्मात्मा परोपकारी जितेन्द्रिय मिथ्याभाषणादि दोषरहित, विद्या और धर्मप्रचार में तत्पर रहे, इत्यादि उत्तम गुण जिस में हों, वह ब्राह्मण-ब्राह्मणी । विद्या, बल, शौर्य, न्यायकारित्वादि गुण जिस में हों, वह क्षत्रिय-क्षत्रिया और विद्वान् होके कृषि पशु-पालन व्यापार देशभाषाओं में चतुरतादि गुण जिस में हों, वह वैश्य-वैश्या और जो विद्याहीन मूर्ख हो, वह शूद्र-शूद्रा कहावे । इसी क्रम से विवाह होना चाहिए, अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या, और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है, अन्यथा नहीं ।

इस वर्णव्यवस्था में प्रमाण—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्ण: पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।।१।।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।।२।।
—आपस्तम्बे ।।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।।३।। —मनुस्मृतौ।।

अर्थ—धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है । और उस वर्ण में जो-जो कर्त्तव्य अधिकाररूप कर्म हैं, वे सब गुण, कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें ।।१।। वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम-उत्तम वर्ण नीचे-नीचे के वर्ण को प्राप्त होवें । और वे ही उस-उस वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें ।।२।। उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव से जो शूद्र है, वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है । वैसे ही नीच

कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है, वह क्षत्रिय वैश्य शूद्र; और क्षत्रिय वैश्य शूद्र तथा वैश्य शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है ।।३।।

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते, और उत्तम बनने में प्रयत्न करते । और उत्तम वर्ण भय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊं, इसलिये बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं । इस से संसार की बड़ी उन्नति है । आर्यावर्त्त देश में जब तक ऐसी वर्णव्यवस्था, पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य विद्याग्रहण उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था, तभी देश की उन्नति थी । अब भी ऐसा ही होना चाहिये, जिस से आर्यावर्त्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे ।

अब वधू-वर एक-दूसरे के गुण, कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें—

दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य मधुरभाषण, कृतज्ञता, दयालुता, अहङ्कार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह; कपट, द्यूत, चोरी, मद्य-मांसाहारादि दोषों का त्याग, गृह कामों में अतिचतुरता हो ।

जब-जब प्रातःसायं वा परदेश से आकर मिलें, तब-तब 'नमस्ते' इस वाक्य से परस्पर नमस्कार कर, स्त्री पति के चरणस्पर्श, पादप्रक्षालन, आसनदान करे । तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेहारे वचनादि व्यवहारों से वर्त्तकर आनन्द भोगें । वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के स्कन्धे के तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिये । तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री-पुरुष वचनादि-व्यवहारों से करें ।

ओम् ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
यदियं कुमार्य्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम् ।
यत्सत्यं तद् दृश्यताम् ॥

अर्थ—जब विवाह करने का समय निश्चय हो चुके, तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की, और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे। पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री-पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें कि—'हे स्त्री वा हे पुरुष ! **इस जगत् के पूर्व ऋत=यथार्थस्वरूप महत्तत्व उत्पन्न हुआ था** और उस महत्तत्व में सत्य, त्रिगुणात्मक, नाशरहित प्रकृति प्रतिष्ठित है । जैसे पुरुष और प्रकृति के योग से विश्व उत्पन्न हुआ है, वैसे मैं कुमारी और मैं कुमार पुरुष इस समय दोनों विवाह

करने की सत्य प्रतिज्ञा करती वा करता हूँ । उस को यह कन्या और मैं वर प्राप्त होवें और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए दृढोत्साही रहें ॥''

विधि—जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ २७–२८ में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाय, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो, उस रात्रि में विवाह करने के लिए प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिए और पृष्ठ १२–१७ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला, वेदी, ऋत्विक्, यज्ञपात्र, शाकल्य आदि सब सामग्री शुद्ध करके रखनी उचित है । पश्चात्* एक घण्टेमात्र रात्रि जाने पर–

ओं काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुꣳ सुरा ते अभवत्। परमत्र जन्माग्रे तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा ॥१॥

ओम् इमं त उपस्थं मधुना सꣳसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतत् द्वितीयम्। तेन पुꣳसोभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्यसि राज्ञि स्वाहा ॥२॥

ओम् अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः। तेनाज्यमकृण्वꣳस्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा ॥३॥

इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू और वर स्नान कर, पश्चात् वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पृष्ठ ४ से ११ तक लिखे प्रमाणे ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करें। तत्पश्चात् पृष्ठ १८–१९ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान समिदाधान, पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक आदि यथोक्त कर वेदी के समीप रखे। वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार [धारण] करके यज्ञशाला में आ उत्तमासन पर पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ४–११ में लिखे प्रमाणे **ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना कर वधू के घर को जाने का ढंग करे। तत्पश्चात् कन्या के और वर पक्ष के पुरुष बड़े सम्मान से वर को घर ले जावें। जिस समय वर वधू के घर में प्रवेश करे, उसी समय वधू और कार्यकर्त्ता मधुपर्क आदि से वर का निम्नलिखित प्रकार से आदर-सत्कार करें–

उस की रीति यह है कि वर वधू के घर में प्रवेश करके पूर्वाभिमुख खड़ा रहे और वधू तथा कार्यकर्त्ता वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े रहके,

वधू और कार्यकर्त्ता–

* यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवें कि जिस से मध्य रात्रि तक विवाहविधि पूरा हो जावे ।

** विवाह में आये हुए भी स्त्रीपुरुष एकाग्रचित्त, ध्यानावस्थित होके इन तीन कर्मों के अनुसार ईश्वर का चिन्तन किया करें ।

ओं साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम् ॥

इस वाक्य को बोलें । उस पर **वर–**

ओम् अर्चय ॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे ।

पुनः जो वधू और कार्यकर्त्ता ने वर के लिये उत्तम आसन सिद्ध कर रखा हो, उस को **वधू हाथ में ले** वर के आगे खड़ी रहके–

ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम् ॥

यह उत्तम आसन है, आप ग्रहण कीजिये । वर–

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके वधू के हाथ से आसन ले, बिछा उस पर सभामण्डप में पूर्वाभिमुख बैठके, वर–

ओं वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः ।
इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भरके कन्या के हाथ में देवे और **कन्या–**

ओं पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोलके वर के आगे धरे । पुनः **वर–**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से उदक ले पग–प्रक्षालन* करे और उस समय–

ओं विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् फिर भी कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भर कन्या के हाथ में देवे । पुनः **कन्या–**

ओम् अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोलके वर के हाथ में देवे । और **वर–**

---

* यदि घर का प्रवेशक द्वार पूर्वाभिमुख हो तो वर उत्तराभिमुख और वधू तथा कार्यकर्त्ता पूर्वाभिमुख खड़े रहके, यदि ब्राह्मण वर्ण हो तो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बायां, और अन्य क्षत्रियादि वर्ण हो तो प्रथम बायाँ पग धोवे, पश्चात् दाहिना ।

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से जलपात्र लेके, उस से मुखप्रक्षालन करे और उसी समय **वर** मुख धोके–

ओम् आप स्थ युष्माभिः सर्वान् कामानवाप्नवानि ॥

ओं समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत ।

अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः ॥

इन मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् वेदी के पश्चिम बिछाये हुए उसी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठे ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उपपात्र जल से पूर्ण भर, उस में आचमनी रख, कन्या के हाथ में देवे । और उस समय **कन्या–**

ओम् आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयं प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य को बोलके वर के सामने करे । और **वर–**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ में से जलपात्र को ले सामने धर, उस में से दहिने हाथ में जल, जितना अंगुलियों के मूल तक पहुंचे उतना लेके, वर–

ओम् आ मागन् यशसा सꣳसृज वर्चसा ।

तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् ॥

इस मन्त्र से एक आचमन । इसी प्रकार **दूसरी और तीसरी वार इसी मन्त्र को पढ़के दूसरा और तीसरा आचमन करे ।**

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता मधुपर्क* का पात्र कन्या के हाथ में देवे और **कन्या–**

ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम् ॥

ऐसी विनति वर से करे और **वर–**

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से ले और उस समय–

ओं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोलके मधुपर्क को **अपनी दृष्टि से देखे** और–

* मधुपर्क उस को कहते हैं–जो दही में घी वा शहद मिलाया जाता है । उस का परिमाण–१२ बारह तोले दही में ४ चार तोले शहद अथवा ४ चार तोले घी मिलाना चाहिए, और यह मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है ।

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रति गृह्णामि ॥

इस मन्त्र को बोलके मधुपर्क के पात्र को **वाम हाथ में लेवे** और–

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥१॥

ओं भूर्भुवः स्वः । मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२॥

ओं भूर्भुवः स्वः । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों से **मधुपर्क की ओर अवलोकन करे ।**

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि॥

इस मन्त्र को पढ़, दहिने हाथ की **अनामिका और अङ्गुष्ठ** से मधुपर्क को **तीन वार बिलोवे** और उस मधुपर्क में से वर–

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **पूर्व दिशा** ।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **दक्षिण दिशा** ।

ओम् आदित्यास्त्वा जागतेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **पश्चिम दिशा**, और

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥

इस मन्त्र से **उत्तर दिशा** में थोड़ा-थोड़ा छोड़े, अर्थात् छींटे देवे।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि ॥

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोलके पात्र के मध्य भाग में से लेके **ऊपर की ओर तीन वार फेंकना** । तत्पश्चात् **उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांसे के पात्रों में धर, भूमि में अपने सम्मुख तीनों पात्र रखे** । रखके–

ओं यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि ॥

इस मन्त्र को एक-एक वार बोलके **एक-एक भाग में से वर थोड़ा-थोड़ा प्राशन करे वा सब प्राशन करे ।** जो उन पात्रों में शेष उच्छिष्ट मधुपर्क रहा हो, वह किसी **अपने सेवक को देवे वा जल**

में डाल देवे । तत्पश्चात्—

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥

इन **दो मन्त्रों से दो आचमन,** अर्थात् एक से एक और दूसरे से दूसरा **वर करे** । तत्पश्चात् **वर** पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे चक्षुरादि इन्द्रियों का जल से स्पर्श करे । पश्चात् **कन्या—**

ओं गौर्गौर्गौः प्रतिगृह्यताम् ॥

इस वाक्य से वर की विनति करके अपनी शक्ति के योग्य वर को **गोदानादि द्रव्य, जो कि वर के योग्य हो, अर्पण करे** । और **वर**—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥

इस वाक्य से उस को ग्रहण करे । इस प्रकार मधुपर्क विधि यथावत् करके, वधू और कार्यकर्त्ता वर को **सभामण्डपस्थान* से घर में ले जाके शुभ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठाके, वर के सामने पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावे । और कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठके—**

ओम् अमुक[१] गोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नीम्[२] अलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान् ॥

इस प्रकार बोलके **वर का हाथ चत्ता** अर्थात् हथेली ऊपर रखके, **उसके हाथ में वधू का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखना,** और **वर**—

ओं प्रतिगृह्णामि ॥ ऐसा बोलके—

ओं जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥

इस मन्त्र को बोलके **वधू को उत्तम वस्त्र** देवे । तत्पश्चात्—

ओं या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ । तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥

इस मन्त्र को बोलके **वधू को वर उपवस्त्र** देवे और उन वस्त्रों को वधू ले के दूसरे घर में एकान्त में जा उन्हीं वस्त्रों को धारण कर और **उपवस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे** ।

---

* यदि सभामण्डप स्थापन न किया हो तो जिस घर में मधुपर्क हुआ हो उस से दूसरे घर में वर को ले जावे ।

१. अमुक इस पद के स्थान में जिस गोत्र और कुल में वधू उत्पन्न हुई हो उस का उच्चारण अर्थात् उस का नाम लेना ।

२. ''अमुकनाम्नीम्'' इस स्थान पर वधू का नाम द्वितीया विभक्ति के एकवचन से बोलना ।

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि ।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥

इस मन्त्र को पढ़के **वर आप अधोवस्त्र धारण करे** । और–

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती ।
यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥

इस मन्त्र को पढ़के **द्विपट्टा (दुपट्टा) धारण करे** ।

इस प्रकार वधू वस्त्र–परिधान करके जब तक संभले, तब तक **कार्यकर्त्ता अथवा दूसरा कोई** यज्ञमण्डप में जा कुण्ड के समीपस्थ हो पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे इन्धन और कर्पूर वा घृत से कुण्ड के अग्नि को प्रदीप्त करे और आहुति के लिए सुगन्ध डाला हुआ घी बटलोई में करके कुण्ड के अग्नि पर गरम कर, कांसे के पात्र में रक्खे और स्रुवादि होम के पात्र तथा जलपात्र इत्यादि सामग्री यज्ञकुण्ड के समीप जोड़कर रक्खे ।

और **वरपक्ष का एक पुरुष** शुद्ध वस्त्र धारण कर, शुद्ध जल से पूर्ण एक कलश को लेके **यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर** कुण्ड के **दक्षिण भाग में** उत्तराभिमुख हो **कलशस्थापन,** अर्थात् भूमि पर अच्छे प्रकार अपने आगे धरके, जब तक विवाह का कृत्य पूरण न हो जाय, तब तक **उत्तराभिमुख बैठा रहे** ।

और उसी प्रकार **वर के पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड लेके कुण्ड के दक्षिणभाग में कार्य–समाप्ति पर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे ।**

और इसी प्रकार **सहोदर वधू का भाई** अथवा सहोदर न हो तो **चचेरा भाई, मामा का पुत्र** अथवा **मौसी का लड़का** हो, वह **चावल वा जुआर की धाणी** और **शमी वृक्ष के सूखे पत्ते** इन दोनों को मिला कर **शमीपत्रयुक्त धाणी की ४ चार अञ्जलि** एक शुद्ध सूप में रखके, धाणीसहित सूप लेके **यज्ञकुण्ड के पश्चिमभाग में पूर्वाभिमुख** बैठा रहे ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता **एक सपाट शिला,** जो कि सुन्दर चिकनी हो उस को तथा वधू और वर को कुण्ड के समीप बैठाने के लिए **दो कुशासन वा यज्ञिय तृणासन अथवा यज्ञिय वृक्ष की छाल के,** जो कि प्रथम से सिद्ध कर रक्खे हों, उन आसनों को रखवावे ।

तत्पश्चात् वस्त्र धारण की हुई कन्या को कार्यकर्त्ता वर के सम्मुख लावे और उस समय **वर और कन्या–**

ओं सम॑ञ्जन्तु विश्वे॑ दे॒वाः समापो॒ हृद॑यानि नौ ।
सं मा॑त॒रिश्वा॒ सं धा॒ता समु॒ देष्ट्री॑ दधातु नौ[१] ॥१॥

इस मन्त्र को बोलें । तत्पश्चात् **वर अपने दक्षिण हाथ से वधू का दक्षिण हाथ पकड़के**–

ओं यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा ।
हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु असौ[२] ॥२॥

इस मन्त्र को बोलके, उस को लेके घर के बाहर मण्डपस्थान में कुण्ड के समीप **हाथ पकड़े हुए दोनों आवें और वधू तथा वर**–

ओं भूर्भुव॒ः स्व॒ः । अघो॑रचक्षु॒रप॑तिघ्न्येधि शि॒वा प॒शुभ्य॒ः सु॒मना॑ः सु॒वर्चा॑ः । वी॒र॒सूर्दे॒वृका॑मा स्यो॒ना शं नो॑ भव द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे[३] ॥३॥

---

१. वर और कन्या बोलें कि (विश्वे देवाः) इस यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वान् लोगो ! आप हम दोनों को (समञ्जन्तु) निश्चय करके जानें कि मैं अपनी प्रसन्नतापूर्वक इस वर वा इस वधू को गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिए एक-दूसरे का स्वीकार करते हैं कि (नौ) हमारे दोनों के (हृदयानि) हृदय (आपः) जल के समान (सम्) शान्त और मिले हुए रहेंगे। जैसे (मातरिश्वा) प्राणवायु हम को प्रिय है, वैसे (सम्) हम दोनों एक-दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे । जैसे (धाता) धारण करनेहारा परमात्मा सब में (सम्) मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है, वैसे हम दोनों एक-दूसरे को धारण करेंगे। जैसे (समुदेष्ट्री) उपदेश करनेहारा श्रोताओं से प्रीति करता है, वैसे (नौ) हमारे दोनों का आत्मा एक-दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को (दधातु) धारण करे ॥१॥

२. (असौ) इस पद के स्थान में कन्या का नाम उच्चारण करना है । हे वरानने वा वरानन ! (यत्) जो तू (मनसा) अपनी इच्छा से मुझ को जैसे (पवमानः) पवित्र वायु (वा) जैसे (हिरण्यपर्णो वैकर्णः) तेजोमय जल आदि को किरणों से ग्रहण करनेवाला सूर्य (दूरम्) दूरस्थ पदार्थों और (दिशोऽनु) दिशाओं को प्राप्त होता है, वैसे तू प्रेमपूर्वक अपनी इच्छा से मुझ को प्राप्त होती वा होता है । उस (त्वा) तुझ को (सः) वह परमेश्वर (मन्मनसाम्) मेरे मन के अनुकूल (करोतु) करे और हे (वीर) जो आप मन से मुझ को (ऐषि) प्राप्त होते हो उस आप को जगदीश्वर मेरे मन के अनुकूल सदा रक्खे ॥२॥

३. हे वरानने ! (अपतिघ्नि) पति से विरोध न करनेहारी तू जिस के (ओम्) अर्थात् रक्षा करनेवाला, (भूः) प्राणदाता, (भुवः) सब दुःखों को दूर करेनहारा, (स्वः) सुखस्वरूप और सब सुखों के दाता आदि नाम हैं, उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से हे (अघोरचक्षुः) प्रियदृष्टि स्त्री (एधि) हो, (शिवा) मङ्गल करनेहारी (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्रान्तःकरणयुक्त प्रसन्नचित्त (सुवर्चाः) सुन्दर शुभ गुण, कर्म,

ओं भूर्भुवः स्वः । सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर । यस्यामुशन्तः प्रहराम शेफं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै ॥

इन ४ चार मन्त्रों को वर बोलके, दोनों वर वधू यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके, कुण्ड के पश्चिम भाग में प्रथम स्थापन किये हुए आसन पर पूर्वाभिमुख वर के दक्षिण भाग में वधू और वधू के वाम भाग में वर बैठके, वधू–

ओं प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताꣳ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १७–१८ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड के समीप दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख **पुरोहित की स्थापना** करनी । तत्पश्चात् पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा)** इत्यादि तीन मन्त्रों से प्रत्येक मन्त्र से एक–एक आचमन, वैसे तीन आचमन वर–वधू और पुरोहित और कार्यकर्त्ता करके, हस्त और मुख–प्रक्षालन एक शुद्धपात्र में करके दूर रखवा दें । हाथ और मुख पोंछके पृ० १९ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड में **(ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव०)** इस मन्त्र से अग्न्याधान पृ० १९ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अयन्त इध्म०)** इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान, और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व)** इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन ओर, और **(ओं देव सवितः प्रसुव०)** इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर दक्षिण हाथ की अञ्जलि से शुद्ध जल सेचन करके, कुण्ड में डाली हुई समिधा प्रदीप्त हुए पश्चात् पृष्ठ २०–२१ में लिखे प्रमाणे वधू–वर पुरोहित और कार्यकर्त्ता **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार घी की देवें । तत्पश्चात् पृ० २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार घी की और पृष्ठ २२–२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति** ८ आठ, ये सब मिलके १६ सोलह आज्याहुति देके प्रधान होम का प्रारम्भ करें ।

प्रधान होम के समय वधू अपने दक्षिण हाथ को वर के दक्षिण

स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित (वीरसूः) उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी (स्योना) सुखयुक्त होके (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिये (शम्) सुख करनेहारी (भव) सदा हो । और (चतुष्पदे) गाय आदि पशुओं को भी (शम्) सुख देनेहारी हो । वैसे मैं तेरा पति भी वर्त्ता करूँ ॥३॥

स्कन्धे पर स्पर्श करके पृ० २१-२२ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से अर्थात् एक-एक से एक-एक मिलके ४ चार आज्याहुति क्रम से करें । और-

ओं भूर्भुवः स्वः। त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि । अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोलके ५ पांचवीं आज्याहुति देनी । तत्पश्चात्-

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमृताषाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय इदन्न मम ॥१॥

ओम् ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः इदन्न मम ॥२॥

ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं संहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय इदन्न मम ॥३॥

ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः इदन्न मम ॥४॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय इदन्न मम ॥५॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः इदन्न मम ॥६॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय इदन्न मम ॥७॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्योऽप्सरोभ्यऽऊर्ग्भ्यः इदन्न मम ॥८॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय इदन्न मम ॥९॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः इदन्न मम ॥१०॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ॥ इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वाय इदन्न मम ॥११॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम । ताभ्यः स्वाहा ॥ इदमृक्सामेभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः इदन्न मम ॥१२॥

इन १२ बारह मन्त्रों से १२ बारह आज्याहुति देनी ।

तत्पश्चात् जयाहोम करना–

ओं चित्तं च स्वाहा ॥ इदं चित्ताय इदन्न मम ॥१॥

ओं चित्तिश्च स्वाहा ॥ इदं चित्त्यै इदन्न मम ॥२॥

ओम् आकूतं च स्वाहा ॥ इदमाकूताय इदन्न मम ॥३॥

ओं आकूतिश्च स्वाहा ॥ इदमाकूत्यै इदन्न मम ॥४॥

ओं विज्ञातं च स्वाहा ॥ इदं विज्ञाताय इदन्न मम ॥५॥

ओं विज्ञातिश्च स्वाहा ॥ इदं विज्ञात्यै इदन्न मम ॥६॥

ओं मनश्च स्वाहा ॥ इदं मनसे इदन्न मम ॥७॥

ओं शक्वरीश्च स्वाहा ॥ इदं शक्वरीभ्यः इदन्न मम ॥८॥

ओं दर्शश्च स्वाहा ॥ इदं दर्शाय इदन्न मम ॥९॥

ओं पौर्णमासं च स्वाहा ॥ इदं पौर्णमासाय इदन्न मम ॥१०॥

ओं बृहच्च स्वाहा ॥ इदं बृहते इदन्न मम ॥११॥

ओं रथन्तरं च स्वाहा ॥ इदं रथन्तराय इदन्न मम ॥१२॥

ओं प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतना जयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय इदन्न मम ॥१३॥

इन मन्त्रों से प्रत्येक से एक-एक करके जयाहोम की १३ तेरह आज्याहुति देनी ।

तत्पश्चात् अभ्यातन होम करना । इसके मन्त्र ये हैं—

ओम् अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याॅं स्वाहा॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याॅं स्वाहा॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये इदन्न मम ॥२॥

ओं यमः पृथिव्याऽअधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याॅं स्वाहा॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये इदन्न मम ॥३॥

ओं वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याॅं स्वाहा॥ इदं वायवे अन्तरिक्षस्याधिपतये इदन्न मम ॥४॥

ओं सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याॅं स्वाहा ॥ इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये इदन्न मम ॥५॥

ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याॅं स्वाहा॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये इदन्न मम ॥६॥

ओं बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याॅं स्वाहा॥ इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये इदन्न मम ॥७॥

ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याॅं स्वाहा॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये इदन्न मम ॥८॥

ओं वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याॅं स्वाहा ॥ इदं वरुणायापामधिपतये इदन्न मम ॥९॥

ओं समुद्रः स्त्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याॅं स्वाहा॥ इदं समुद्राय स्त्रोत्यानामधिपतये इदन्न मम ॥१०॥

ओम् अन्नꣳ साम्राज्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये इदन्न मम ॥११॥

ओं सोमऽओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं सोमाय ओषधीनामधिपतये इदन्न मम ॥१२॥

ओं सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये इदन्न मम ॥१३॥

ओं रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये इदन्न मम ॥१४॥

ओं त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये इदन्न मम ॥१५॥

ओं विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये इदन्न मम ॥१६॥

ओं मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः इदन्न मम ॥१७॥

ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा ॥ इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यश्च इदन्न मम ॥१८॥

इस प्रकार अभ्यातन होम की अठारह आज्याहुति दिये पीछे, पुनः—

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयꣳ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघन्न रोदात् स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥२॥

ओं स्वस्ति नोऽग्ने दिवा पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र। यदस्यां मयि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥३॥

ओं सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्नऽआयुः। अपैतु मृत्युरमृतं म आगाद् वैवस्वतो नोऽअभयं कृणोतु स्वाहा ॥ इदं वैवस्वताय इदन्न मम ॥४॥

ओं परं मृत्योऽअनु परेहि पन्थां यत्र नोऽअन्य इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳरीरिषो मोत वीरान्त्स्वाहा॥ इदं मृत्यवे इदन्न मम ॥५॥

ओं द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च । स्तनन्धयस्ते पुत्रान्त्सविताभिरक्षत्वावाससः परिधानाद् बृहस्पतिर्विश्वे देवा अभिरक्षन्तु पश्चात्स्वाहा ॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः इदन्न मम ॥६॥

ओं मा ते गृहेषु निशि घोष उत्त्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु मा त्वꣳ रुदत्युरऽआवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजाꣳ सुमनस्यमानाꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥७॥

ओम् अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वाऽअघम् । शीर्ष्णस्त्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥८॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक–एक आहुति करके आठ आज्याहुति दीजिये।

तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे (ओं भूरग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति दीजिये ।

ऐसे होम करके वर आसन से उठ पूर्वाभिमुख बैठी वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर अपने वामहस्त से वधू का दहिना हाथ चत्ता धरके ऊपर को उचाना । और अपने दक्षिण हाथ से वधू के उठाये हुए दक्षिण हस्ताञ्जलि अंगुष्ठासहित चत्ती ग्रहण करके, वर–

ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः[1] ॥१॥

---

१. हे वरानने ! जैसे मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिये (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं, तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था को प्राप्त सुखपूर्वक (आसः) हो तथा हे वीर ! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आपके हस्त को

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव[1] ॥२॥
ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम्[2] ॥३॥
त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया[3] ॥४॥

ग्रहण करती हूं । आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये । आप को मैं और मुझ को आप आज से पति-पत्नी भाव करके प्राप्त हुए हैं । (भगः) सकल ऐश्वर्ययुक्त (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता (पुरन्धिः) बहुत प्रकार के जगत् का धर्त्ता परमात्मा और (देवाः) ये सब सभामण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग (गार्हपत्याय) गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिये (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदुः) देते हैं । आज से मैं आप के हस्ते और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं, कभी एक-दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे ॥१॥

१. हे प्रिये ! (भगः) ऐश्वर्ययुक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण करता हूं । तथा (सविता) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण कर चुका हूं । (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी (पत्नी) भार्या (असि) है, और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूं। अपने दोनों मिलके घर के कामों की सिद्धि करें। और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है, उस को कभी न करें । जिस से घर के सब काम सिद्ध, उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती सदा होती रहे ॥२॥

२. हे अनघे ! (बृहस्पतिः) सब जगत् के पालन करनेहारे परमात्मा ने जिस (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मुझे (अदात्) दिया है, (इदम्) यही तू जगत् भर में मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो । हे (प्रजावति !) तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त (शं जीव) सुखपूर्वक जीवन धारण कर । वैसे ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे-'हे भद्रवीर! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो । मेरे लिये आपके विना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करनेहारा सेव्य इष्टदेव कोई नहीं है। न मैं आप से अन्य दूसरे किसी को मानूंगी । जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे, वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से न वर्त्ता करूंगी । आप मेरे साथ सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिये' ॥३॥

३. हे शुभानने ! जैसे (बृहस्पतेः) इस परमात्मा की सृष्टि में और उस की तथा (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) शिक्षा से दम्पती होते हैं, (त्वष्टा) जैसे बिजुली सब को व्याप्त हो रही है, वैसे तू मेरी प्रसन्नता के लिये (वासः) सुन्दर वस्त्र, और (शुभे) आभूषण तथा (कम्) मुझ से सुख को प्राप्त

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु[१] ॥५॥
अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन्मनसा कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्[२] ॥६॥

इन पाणिग्रहण के ६ छह मन्त्रों को बोलके, पश्चात् **वर वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के उठावे** और उस को साथ लेके जो कुण्ड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापन किया था, उस को वही पुरुष जो कलश

हो । इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा (व्यदधात्) सिद्ध करे । जैसे (सविता) सकल जगत् की उत्पत्ति करनेहारा परमात्मा (च) और (भगः) पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (प्रजया) उत्तम प्रजा से (इमाम्) इस तुझ (नारीम्) मुझ नर की स्त्री को (परिधत्ताम्) आच्छादित शोभायुक्त करे, वैसे मैं (तेन) इस सब से (सूर्याम् इव) सूर्य की किरण के समान तुझ को वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित सदा रक्खूंगा । तथा हे प्रिय ! आप को मैं इसी प्रकार सूर्य के समान सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके (प्रजया) ऐश्वर्य वस्त्राभूषण आदि से सदा आनन्दित रक्खूंगी ॥४॥

१. हे मेरे सम्बन्धी लोगो ! जैसे (इन्द्राग्नी) बिजुली और प्रसिद्ध अग्नि, (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि, (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु, (मित्रावरुणा) प्राण और उदान तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विना) सद्वैद्य और सत्योपदेशक (उभा) दोनों, (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ, न्यायकारी, बड़ी प्रजा का पालन करनेहारा राजा, (मरुतः) सभ्य मनुष्य, (ब्रह्म) सब से बड़ा परमात्मा, और (सोमः) चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधिगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं, वैसे (इमां नारीम्) इस मेरी स्त्री को (प्रजया) प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी (वर्धयन्तु) बढ़ाया करो। जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूंगा, वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस मेरे पति को सदा आनन्द ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूंगी । जैसे ये दोनों मिलके प्रजा को बढ़ाया करते हैं, वैसे तू और मैं मिलके गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें ॥५॥

२. हे कल्याणक्रोडे ! जैसे (मनसा) मन से (कुलायम्) कुल की वृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहम्) मैं (अस्याः) इस तेरे (रूपम्) रूप को (विष्यामि) प्रीति से प्राप्त और इस में प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूं, वैसे यह तू मेरी वधू (मयि) मुझ में प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को (वेदत्) प्राप्त होवे । जैसे मैं (मनसा) मन से भी इस तुझ वधू के साथ (स्तेयम्) चोरी को (उद्मुच्ये) छोड़ देता हूं, और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से (नाद्मि) भोग नहीं करता हूं, (स्वयम्) आप (श्रथ्नानः) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बन्धनों को दूर करता रहूं, वैसे (इत्) ही यह वधू भी किया करे। इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि—मैं भी इसी प्रकार आप से वर्त्ता करूंगी ॥६॥

के पास बैठा था, वर–वधू के साथ उसी कलश को ले चले। **यज्ञकुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा करके–**

ओम् अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम् । सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै ॥ प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः॥ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्[1] **॥७॥**

इन प्रतिज्ञा–मन्त्रों से दोनों प्रतिज्ञा करके–

पश्चात् वर वधू के पीछे रहके, वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रहके, वधू की दक्षिणाञ्जलि अपनी दक्षिणाञ्जलि से पकड़के दोनों खड़े रहें । और वह पुरुष पुनः कुण्ड के दक्षिण में कलश लेके वैसे बैठे । तत्पश्चात् **वधू की माता अथवा भाई** जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रखी थी, उस को बायें हाथ में लेके **दहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवाके पत्थर की शिला पर चढ़वावे ।** और उस समय वर–

---

१. हे वधू ! जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करनेवाला (अस्मि) होता हूं, वैसे (सा) सो (त्वम्) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी (असि) है । जैसे (अहम्) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझ को (अमः) ग्रहण करता हूं, वैसे (सा) सो मैंने ग्रहण की हुई (त्वम्) तू मुझ को भी ग्रहण करती है । (अहम्) मैं (साम) सामवेद के तुल्य प्रशंसित (अस्मि) हूं । हे वधू ! तू (ऋक्) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है, (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है और मैं (द्यौः) वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूं । वह तू और मैं (तावेव) दोनों ही (विवहावहै) प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें, (सह) साथ मिलके (रेतः) वीर्य को (दधावहै) धारण करें । (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को (प्रजनयावहै) उत्पन्न करें, (बहून्) बहुत (पुत्रान्) पुत्रों को (विन्दावहै) प्राप्त होवें । (ते) वे पुत्र (जरदष्टयः) जरावस्था के अन्त तक जीवनयुक्त (सन्तु) रहें, (संप्रियौ) अच्छे प्रकार [एक] दूसरे से प्रसन्न, (रोचिष्णू) एक–दूसरे में रुचियुक्त, (सुमनस्यमानौ) अच्छे प्रकार विचार करते हुए (शतम्) सौ [शरदः] शरद्ऋतु अर्थात् शत वर्ष पर्यन्त एक–दूसरे को प्रेम की दृष्टि से (पश्येम) देखते रहें (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से (जीवेम) जीते रहें और (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त प्रिय वचनों को (शृणुयाम) सुनते रहें ॥७॥

ओम् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव ।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ॥१॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् वधू वर कुण्ड के समीप आके पूर्वाभिमुख दोनों खड़े रहें और यहां वधू दक्षिण ओर रहके अपनी हस्ताञ्जलि को वर की हस्ताञ्जलि पर रक्खे ।

तत्पश्चात् वधू की मां वा भाई, जो बायें हाथ में धाणी का सूपड़ा पकड़के खड़ा रहा हो, वह धाणी का सूपड़ा भूमि पर धर अथवा किसी के हाथ में देके, जो वधू–वर की एकत्र की हुई अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जलि है, उस में प्रथम थोड़ा घृत सिंचन करके, पश्चात् प्रथम सूप में से दहिने हाथ की अञ्जलि से दो वार लेके वर–वधू की एकत्र की हुई अञ्जलि में धाणी डाले । पश्चात् उस अञ्जलिस्थ धाणी पर थोड़ा सा घी सिंचन करे । पश्चात् **वधू वर की** हस्ताञ्जलि सहित अपनी हस्ताञ्जलि को आगे से नमाके–

ओम् अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत । स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा ॥ इदमर्यम्णे अग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

ओम् इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥१॥

इन ३ तीन मन्त्रों में एक–एक मन्त्र से एक–एक वार थोड़ी–थोड़ी धाणी की आहुति तीन वार प्रज्वलित ईंधन पर देके, **वर**–

ओं सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति । यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः । यस्यां भूतꣳ समभवद् यस्यां विश्वमिदं जगत् । तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥१॥

इस मन्त्र को बोलके अपने जमणे हाथ की हस्ताञ्जलि से वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के, **वर**–

ओं तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥१॥
ओं कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमप दीक्षामयष्ट ।
कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः ॥२॥

इन मन्त्रों को पढ़ **यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके**, यज्ञकुण्ड के

पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके थोड़ी देर दोनों खड़े रहें ।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार कलश सहित यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर, पुनः दो वार इसी प्रकार, अर्थात् सब मिलके ४ चार परिक्रमा करके, अन्त में यज्ञकुण्ड के पश्चिम में थोड़ा खड़ा रहके, उक्त रीति से तीन वार क्रिया पूरी हुए पश्चात् यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख वधू-वर खड़े रहें । पश्चात् वधू की मां अथवा भाई उस सूप को तिरछा करके उस में बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जलि में डाल देवे । पश्चात् **वधू**—

ओं भगाय स्वाहा ॥ इदं भगाय इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोलके प्रज्वलित अग्नि पर वेदी में उस धाणी की एक आहुति देवे । पश्चात् **वर वधू को दक्षिण भाग में रखके कुण्ड के पश्चिम पूर्वाभिमुख बैठके**—

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥

इस मन्त्र को बोलके स्रुवा से एक घृत की आहुति देवे ।

तत्पश्चात् एकान्त में जाके वधू के बंधे हुये केशों को वर—

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥१॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥२॥

इन दोनों मन्त्रों को बोलके प्रथम **वधू के केशों को छोड़ना ।**

तत्पश्चात् सभामण्डप में आके 'सप्तपदी-विधि' का आरम्भ करे। इस समय **वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गांठ देनी, इसे 'जोड़ा' कहते हैं ।** वधू-वर दोनों जने आसन पर से उठके **वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जलि पकड़के यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग में जावें ।** तत्पश्चात् वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्धे पर रखके दोनों समीप-समीप उत्तराभिमुख खड़े रहें । तत्पश्चात् **वर**—

मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम ॥

ऐसा बोलके वधू को उस का दक्षिण पग उठवाके चलने के लिए आज्ञा देनी । और—

ओम् इष एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु

पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥

इस मन्त्र को बोलके वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग[1] चले और चलावे ।

ओम् ऊर्ज्जे द्विपदी भव०[2] ॥ इस मन्त्र से दूसरा ।
ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ इस मन्त्र से तीसरा ।
ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से चौथा ।
ओं प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव० ॥ इस मन्त्र से पांचवां ।
ओं ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से छठा । और–
ओं सखे सप्तपदी भव० ॥ इस मन्त्र से सातवां पगला चलना।

इस रीति से इन ७ **सात मन्त्रों से ७ सात पग ईशान दिशा में चलाके वर-वधू दोनों गांठ बंधे हुए शुभासन पर बैठें ।**

तत्पश्चात् प्रथम से जो जल के कलश को लेके यज्ञकुण्ड के दक्षिण की ओर में बैठाया था, वह पुरुष उस पूर्व-स्थापित जलकुम्भ को लेके वधू वर के समीप आवे । और उस में से थोड़ा सा जल लेके **वधू-वर के मस्तक पर छिटकावे** । और **वर**–

ओम् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽ ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥१॥ ओं यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥२॥ ओं तस्माऽ अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥

ओम् आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥४॥

इन ४ चार मन्त्रों को बोले । तत्पश्चात् **वधू-वर वहां से उठके**–

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥१॥

इस **मन्त्र को पढ़के सूर्य का अवलोकन करें ।**

---

१. इस पग धरने का विधि ऐसा है कि वधू प्रथम अपना जमणा पग उठाके ईशानकोण की ओर बढ़ाके धरे । तत्पश्चात् दूसरे बायें पग को उठाके जमणे पग की पटली तक धरे । अर्थात् जमणे पग के थोड़ा सा पीछे बायां पग रक्खे । इसी को एक पगला गिणना । इसी प्रकार अगले छः मन्त्रों से भी क्रिया करनी । अर्थात् १-१ मन्त्र से १-१ पग ईशान दिशा की ओर धरना।
२. जो 'भव' के आगे मन्त्र में पाठ है, सो छः मन्त्रों के इस 'भव' पद के आगे पूरा बोलके पग धरने की क्रिया करनी ।

तत्पश्चात् **वर** वधू के **दक्षिण स्कन्धे पर अपना दक्षिण हाथ लेके** उस से **वधू का हृदय स्पर्श करके**–

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥[1]

इस मन्त्र को बोले और उसी प्रकार **वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके** इसी ऊपर लिखे हुए मन्त्र को बोले[2]।

तत्पश्चात् **वर वधू के मस्तक पर हाथ धरके**–

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं वि परेतन ॥

इस मन्त्र को बोलके कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करना और इस समय सब लोग–

'ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ॥'

इस वाक्य से आशीर्वाद देवें ।

तत्पश्चात् वधू–वर यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् बैठके, पुनः पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे दोनों **(ओं यदस्य कर्मणो०)** इस **स्विष्टकृत्** मन्त्र से होमाहुति अर्थात् एक आज्याहुति और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूरग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से एक–एक से एक–एक आहुति करके ४ चार आज्याहुति देवें । और **इस प्रमाणे विवाह का विधि पूरा हुए पश्चात् दोनों जने आराम, अर्थात् विश्राम करें ।**

इस रीति से थोड़ा सा विश्राम करके विवाह का उत्तर–विधि करें।

---

१. हे वधू ! (ते) तेरे (हृदयम्) अन्तःकरण और आत्मा को (मम) मेरे (व्रते) कर्म के अनुकूल (दधामि) धारण करता हूं । (मम) मेरे (चित्तमनु) चित्त के अनुकूल (ते) तेरा (चित्तम्) चित्त सदा (अस्तु) रहे । (मम) मेरी (वाचम्) वाणी को तू (एकमनाः) एकाग्रचित्त से (जुषस्व) सेवन किया कर । (प्रजापतिः) प्रजा का पालन करनेवाला परमात्मा (त्वा) तुझ को (मह्यम्) मेरे लिये (नियुनक्तु) नियुक्त करे ।

२. वैसे ही हे प्रिय वीर स्वामिन् ! आपका हृदय, आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण कर्म में धारण करती हूं । मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे । आप एकाग्र होके मेरी वाणी का जो कुछ मैं आपसे कहूं, उसका सेवन सदा किया कीजिए, क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आप को मेरे आधीन किया है जैसे मुझ को आपके आधीन किया है, अर्थात् इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्ता करें, जिस से सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान्, पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार, अप्रियभाषणादि को छोड़के परस्पर प्रीतियुक्त रहें ।

यह उत्तर-विधि सब **वधू के घर की ईशान दिशा में,** विशेष करके एक घर प्रथम से बना रखा हो, वहां जाके करना ।

तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे [जब] आकाश में नक्षत्र दीखें, उस समय **वधू-वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठें** और पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान **(ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०)** इस मन्त्र से करें । यदि प्रथम ही सभामण्डप ईशान दिशा में हुआ, और प्रथम अग्न्याधान किया हो तो अग्न्याधान न करें । **(ओं अयन्त इध्म०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से समिदाधान करके, जब अग्नि प्रदीप्त होवे तब पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूरग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से ४ चार व्याहृति आहुति, ये सब मिलके **८ आठ आज्याहुति देवें** ।

तत्पश्चात् प्रधान-होम करें निम्नलिखित मन्त्रों से-

ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वारोकेषु च यानि ते । तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै इदन्न मम॥

ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत् । तानि०॥

ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत् । तानि०॥

ओम् आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत् । तानि०॥

ओम् ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते । तानि०॥

ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् ।
पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा ॥
इदं कन्यायै इदन्न मम ॥

ये ६ छह मन्त्र हैं । इन में से एक-एक मन्त्र बोल, एक-एक से ६ छह आज्याहुति देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं भूरग्नये स्वाहा)** इत्यादि ४ चार व्याहृति मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देके-

वधू-वर वहां से उठके सभामण्डप के **बाहर उत्तर दिशा में जावें।** तत्पश्चात् **वर**-

ध्रुवं पश्य ॥

ऐसा बोलके **वधू को ध्रुव का तारा दिखलावे**[1] और **वधू** वर से बोले कि मैं-

---

१. हे वधू वा वर ! जैसे यह ध्रुव दृढ़ स्थिर है, इसी प्रकार आप और मैं एक-दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़ स्थिर रहें ।

पश्यामि ॥ ध्रुव के तारे को देखती हूं ।

तत्पश्चात् वधू बोले—

ओं ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य[1] असौ)॥

इस मन्त्र को बोलके, तत्पश्चात्—

अरुन्धतीं पश्य ॥

ऐसा वाक्य बोलके **वर** वधू को **अरुन्धती का तारा दिखलावे।** और वधू—

पश्यामि ॥ ऐसा कहके—

ओम् अरुन्धत्यसि रुद्धाहमस्मि (अमुष्य[2] असौ) ॥

इस मन्त्र को बोलके वर वधू की ओर देखके वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

ओं ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्[3] ॥

ओं ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि । मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती सं जीव शरदः शतम्[4] ॥

---

१. (अमुष्य) इस पद के स्थान में षष्ठीविभक्त्यन्त पति का नाम बोलना । जैसे—शिवशर्मा पति का नाम हो, तो ''शिवशर्मणः'' ऐसा, और (असौ) इस पद के स्थान में वधू अपने नाम को प्रथमाविभक्त्यन्त बोलके इस मन्त्र को पूरा बोले । जैसे—''भूयासं सौभाग्यदाहं शिवशर्मणस्ते'' । इस प्रकार दोनों पद जोड़के बोले ।

२. (अमुष्य) इस पद के स्थान में **पति का नाम षष्ठ्यन्त,** और (असौ) इस के स्थान में वधू का प्रथमान्त नाम जोड़कर बोले—हे स्वामिन् ! सौभाग्यदा (अहम्) मैं (अमुष्य) आप शिवशर्मा की अर्धाङ्गी (पतिकुले) आपके कुल में (ध्रुवा) निश्चल जैसे कि आप (ध्रुवम्) दृढ़ निश्चयवाले मेरे स्थिर पति (असि) हैं, वैसे मैं भी आप की स्थिर दृढ़ पत्नी (भूयासम्) होऊँ ।

३. हे वरानने ! जैसे (द्यौः) सूर्य की कान्ति वा विद्युत् (ध्रुवा) सूर्यलोक वा पृथिव्यादि में निश्चल, जैसे (पृथिवी) भूमि अपने स्वरूप में (ध्रुवा) स्थिर, जैसे (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) संसार प्रवाह स्वरूप में (ध्रुवम्) स्थिर है । जैसे (इमे) ये प्रत्यक्ष (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) अपनी स्थिति में स्थिर हैं, वैसे (इयम्) यह तू मेरी (स्त्री) (पतिकुले) मेरे कुल में (ध्रुवा) सदा स्थिर रह ।।

४. हे स्वामिन् ! जैसे आप मेरे समीप (ध्रुवम्) दृढ़ सङ्कल्प करके स्थिर (असि) हैं या जैसे मैं (त्वा) आप को (ध्रुवम्) स्थिर दृढ़ (पश्यामि) देखती हूं वैसे ही सदा के लिये मेरे साथ आप दृढ़ रहियेगा । क्योंकि मेरे मन के अनुकूल (त्वा) आप को (बृहस्पतिः) परमात्मा (अदात्) समर्पित कर चुका

इन दोनों मन्त्रों को बोले ।

पश्चात् वधू और वर दोनों यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होके कुण्ड के समीप बैठें । और पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा)** इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक आचमन करके तीन-तीन **आचमन** दोनों करें । पश्चात् पृष्ठ १९ में लिखी हुई समिधाओं से यज्ञकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त करके, पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे घृत और स्थालीपाक अर्थात् भात को उसी समय बनावें। पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे **(ओम् अयन्त इध्म०)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से **समिधा होम** दोनों जने करके, पश्चात् पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार, दोनों मिलके ८ आठ आज्याहुति वर-वधू देवें।

तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन, अर्थात् भात, उस को एक पात्र में निकालके उस के ऊपर **स्रुवा से घृत सेचन करके,** घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ से थोड़ा-थोड़ा भात **दोनों जने लेके**—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥

इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः इदन्न मम ॥

ओम् अनुमतये स्वाहा ॥ इदमनुमतये इदन्न मम ॥

इन में से प्रत्येक मन्त्र से एक-एक करके ४ चार स्थालीपाक अर्थात् **भात की आहुति** देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(ओं यदस्य कर्मणो०)** इस मन्त्र से १ एक **स्विष्टकृत् आहुति** देनी । तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार और पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति** ८ आठ, दोनों मिलके १२ बारह आज्याहुति देनी ।

है । वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजायुक्त होके (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यन्त (सम् जीव) जीविये तथा हे वरानने पत्नी ! (पोष्ये) धारण और पालन करने योग्य (मयि) मुझ पति के निकट (ध्रुवा) स्थिर (एधि) रह । (मह्यम्) मुझ को अपनी मनसा के अनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है । तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (प्रजावती) बहुत उत्तम प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर । वधू-वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिस से कभी उलटे विरोध में न चलें ॥

तत्पश्चात् शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकालके उस पर घृत-सेचन और दक्षिण हाथ रखके—

ओम् अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना ।
बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते[1] ॥१॥
ओं यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम ।
यदिदꣳ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव[2] ॥२॥
ओम् अन्नं प्राणस्य षड्विꣳशस्तेन बध्नामि त्वा असौ[3] ॥३॥

इन तीनों मन्त्रों को मन से जपके **वर उस भात में से प्रथम थोड़ा सा भक्षण करके, जो उच्छिष्ट शेष भात रहे वह अपनी वधू के लिये खाने को देवे ।** और जब वधू उस को खा चुके, तब वधू-वर यज्ञ-मण्डप में सन्नद्ध हुए शुभासन पर नियम प्रमाणे पूर्वाभिमुख बैठें और पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे सामवेदोक्त महावामदेव्यगान करें।

तत्पश्चात् पृष्ठ ४-११ में लिखे प्रमाणे **ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** कर्म करके क्षार लवण रहित मिष्ट, दुग्ध, घृतादिसहित भोजन करें ।

तत्पश्चात् पृष्ठ २३, २४ में लिखे प्रमाणे पुरोहितादि सद्धर्मी और कार्यार्थ इकट्ठे हुए लोगों को सम्मानार्थ उत्तम भोजन कराना ।

तत्पश्चात् यथायोग्य पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री आदर-सत्कार करके विदा कर देवें ।

तत्पश्चात् दश घटिका रात जाय, तब वधू और वर पृथक्-पृथक् स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रिपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत सहित रहकर शयन करें और ऐसा भोजन करें कि स्वप्न में भी वीर्यपात न

---

१. हे वधू वा वर ! जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है, वैसे (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय (च) और (मनः) मन (च) और चित्त आदि को (सत्यग्रन्थिना) सत्यता की गांठ से (बध्नामि) बांधती वा बांधता हूं ॥१॥

२. हे वर ! हे स्वामिन् वा पत्नी ! (यदेतत्) जो यह (तव) तेरा (हृदयम्) आत्मा वा अन्तःकरण है, (तत्) वह (मम) मेरा (हृदयम्) आत्मा अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (अस्तु) हो । और (मम) मेरा (यदिदम्) जो यह (हृदयम्) आत्मा प्राण और मन है, (तत्) सो (तव) तेरे (हृदयम्) आत्मादि के तुल्य प्रिय (अस्तु) सदा रहे ॥२॥

३. (असौ) हे यशोदे ! जो (प्राणस्य) प्राण का पोषण करनेहारा (षड्विंशः) २६ छब्बीसवाँ तत्त्व (अन्नम्) अन्न है, (तेन) उससे (त्वा) तुझ को (बध्नामि) दृढ़ प्रीति से बांधता वा बांधती हूं ॥३॥

होवे । तत्पश्चात् चौथे दिवस विधिपूर्वक गर्भाधानसंस्कार करे । यदि चौथे दिवस कोई अड़चन आवे तो अधिक दिन ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ रह कर जिस दिन दोनों की इच्छा हो, और पृष्ठ २७-२८ में लिखे प्रमाणे गर्भाधान की रात्रि भी हो, उस रात्रि में यथाविधि गर्भाधान करें ।

तत्पश्चात् दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वर पक्षवाले लोग वधू और वर को रथ में बैठाके बड़े सम्मान से अपने घर में लावें और जो वधू अपने माता-पिता के घर को छोड़ते समय आँख में अश्रु भर लावे तो-

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥

इस मन्त्र को वर बोले । और रथ में बैठते समय वर अपने साथ दक्षिण बाजू वधू को बैठावे । उस समय में वर-

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥१॥
सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥२॥

इन दो मन्त्रों को बोलके रथ को चलावे ।

यदि वधू को वहां से अपने घर लाने के समय नौका पर बैठना पड़े तो इस निम्नलिखित मन्त्र को पूर्व बोलके नौका पर बैठें-

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।

और नाव से उतरते समय-

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥

इस उत्तरार्द्ध मन्त्र को बोलके नाव से उतरें ।

पुनः इसी प्रकार मार्ग में चार मार्गों का संयोग, नदी, व्याघ्र, चोर आदि से भय वा भयङ्कर स्थान, ऊंचे-नीचे खाढ़ावाली पृथिवी, बड़े-बड़े वृक्षों का झुण्ड वा श्मशान भूमि आवे, तो-

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती ।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥

इस मन्त्र को बोले ।

तत्पश्चात् वधू-वर जिस रथ में बैठके जाते हों, उस रथ का कोई अङ्ग टूट जाय, अथवा किसी प्रकार का अकस्मात् उपद्रव होवे तो मार्ग में कोई अच्छा स्थान देखके निवास करना । और साथ रक्खे हुए

विवाहाग्नि को प्रकट करके उस में पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे ४ चार **व्याहृति आज्याहुति** देनी । पश्चात् पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करना ।

पश्चात् जब वधू-वर का रथ वर के घर के आगे आ पहुँचे, तब **कुलीन, पुत्रवती, सौभाग्यवती वा कोई ब्राह्मणी वा अपने कुल की स्त्री** आगे-सामने आकर वधू का हाथ पकड़के वर के साथ रथ से नीचे उतारे और वर के साथ सभामण्डप में ले जावे । सभामण्डप द्वारे आते ही **वर** वहां कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करके-

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याऽथास्तं वि परेतन ॥

इस मन्त्र को बोले । और आये हुए लोग-

ओं सौभाग्यमस्तु । ओं शुभं भवतु ॥

इस प्रकार आशीर्वाद देवें । तत्पश्चात् वर-

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥

इस मन्त्र को बोलके वधू को सभामण्डप में ले जावे ।

तत्पश्चात् वधू-वर पूर्व-स्थापित यज्ञकुण्ड के समीप जावें । उस समय **वर**-

ओम् इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदतु ॥

इस मन्त्र को बोलके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पीठासन अथवा तृणासन पर वधू को अपने दक्षिण भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे (ओम् अमृतोपस्तरणमसि) इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके तीन-तीन आचमन करें । तत्पश्चात् पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे कुण्ड में यथाविधि समिधा-चयन, अग्न्याधान करें । जब उसी कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो, तब उस पर घृत सिद्ध करके पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे समिदाधान करके प्रदीप्त हुए अग्नि में पृष्ठ २१-२३ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, अष्टाज्याहुति ८ आठ, सब मिलके १६ सोलह आज्याहुति वधू-वर करके प्रधानहोम का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्रों से करें-

ओम् इह धृतिः स्वाहा ॥ इदमिह धृत्यै इदन्न मम ॥

ओम् इह स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदमिह स्वधृत्यै इदन्न मम ॥
ओम् इह रन्तिः स्वाहा ॥ इदमिह रन्त्यै इदन्न मम ॥
ओम् इह रमस्व स्वाहा ॥ इदमिह रमाय इदन्न मम ॥
ओम् मयि धृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि धृत्यै इदन्न मम ॥
ओम् मयि स्वधृतिः स्वाहा ॥ इदं मयि स्वधृत्यै इदन्न मम॥
ओम् मयि रमः स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय इदन्न मम ॥
ओम् मयि रमस्व स्वाहा ॥ इदं मयि रमाय इदन्न मम ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक करके ८ आठ आज्याहुति देके-

ओम् आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा[1] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥१॥

ओम् अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा[2] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥२॥

ओम् इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु । दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि स्वाहा[3] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥३॥

---

१. हे वधू ! (अर्यमा) न्यायकारी दयालु (प्रजापतिः) परमात्मा कृपा करके (आजरसाय) जरावस्था-पर्यन्त जीने के लिये (नः) हमारी (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को शुभ गुण, कर्म और स्वभाव से (आजनयतु) प्रसिद्ध करे, (समनक्तु) उस से उत्तम सुख को प्राप्त करे, और वे शुभगुणयुक्त (मङ्गलीः) स्त्रीलोग सब कुटुम्बियों को आनन्द (अदुः) देवें, उन में से एक तू हे वरानने ! (पतिलोकम्) पति के घर वा सुख को (आविश) प्रवेश वा प्राप्त हो । (नः) हमारे (द्विपदे) पिता आदि मनुष्यों के लिए (शम्) सुखकारिणी और (चतुष्पदे) गौ आदि को (शम्) सुखकर्त्ता (भव) हो ॥१॥

२. इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ ११२ में लिखे प्रमाणे जानना ॥२॥

३. ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे (मीढ्वः) वीर्य-सेचन करनेहारे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त इस वधू के स्वामिन् ! (त्वम्) तू (इमाम्) इस वधू को (सुपुत्राम्) उत्तम पुत्रयुक्त (सुभगाम्) सुन्दर सौभाग्य भोगवाली (कृणु) कर । (अस्याम्) इस वधू में (दश) दश (पुत्रान्) पुत्रों को (आधेहि) उत्पन्न कर, अधिक नहीं । और हे स्त्री ! तू भी अधिक कामना मत कर, किन्तु दश पुत्र और (एकादशम्) ग्यारहवें (पतिम्) पति को प्राप्त होकर सन्तोष (कृधि) कर । यदि इस से आगे सन्तानोत्पत्ति का लोभ करोगे

ओं सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव । ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु स्वाहा[१] ॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै इदन्न मम ॥४॥

इन ४ चार मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके ४ चार **आज्याहुति** देके, पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **स्विष्टकृत्** होमाहुति १ एक, **व्याहृति** आज्याहुति ४ चार और **प्राजापत्याहुति** १ एक, ये सब मिलके ६ छह आज्याहुति देकर—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ[२] ॥

इस मन्त्र को बोलके दोनों **दधिप्राशन** करें ।

तत्पश्चात्—

अहं भो अभिवादयामि[३] ॥

इस वाक्य को बोलके दोनों वधू-वर, वर की माता-पिता आदि

तो तुम्हारे दुष्ट अल्पायु निर्बुद्धि सन्तान होंगे । और तुम भी अल्पायु रोगग्रस्त हो जाओगे । इसलिये अधिक सन्तानोत्पत्ति न करना ॥

तथा (पतिमेकादशं कृधि) इस पाद का अर्थ नियोग में दूसरा होगा—अर्थात् जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा की है, वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे करावे । वैसे ही एक स्त्री के लिये एक पति से एक वार विवाह, और पुरुष के लिये भी एक स्त्री से एक ही वार विवाह करने की आज्ञा है । जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे, वैसे पुरुष भी विगतस्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे ॥३॥

१. हे वरानने ! तू (श्वशुरे) मेरा पिता जो कि तेरा श्वशुर है, उस में प्रीति करके (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान चक्रवर्ती राजा की राणी के समान पक्षपात छोड़के प्रवृत्त (भव) हो । (श्वश्र्वाम्) मेरी माता जो कि तेरी सासु है, उस में प्रेमयुक्त होके उसी की आज्ञा में (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान (भव) रहा कर । (ननान्दरि) जो मेरी बहिन और तेरी ननन्द है, उस में भी (सम्राज्ञी) प्रीतियुक्त और (देवृषु) मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं, उन में भी (सम्राज्ञी) प्रीति से प्रकाशमान (अधि भव) अधिकारयुक्त हो, अर्थात् सब से अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्ता कर ॥४॥

२. इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ ११२ में लिखे प्रमाणे समझ लेना ॥

३. इस से उत्तम 'नमस्ते' यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिए नित्यप्रति स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य आदि के लिए है। प्रातः सायम् अपूर्व समागम में जब-जब मिलें, तब-तब इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें ॥

वृद्धों को प्रीतिपूर्वक नमस्कार करें ।

पश्चात् सुभूषित होकर शुभासन पर बैठके पृष्ठ २३-२४ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान करके, **उसी समय पृष्ठ ४-६ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करनी** । उस समय कार्यार्थ आये हुए सब स्त्री-पुरुष ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर का ध्यान करें ।

तथा वधू-वर, पिता, आचार्य और पुरोहित आदि को कहें कि-

ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु ॥

आप लोग स्वस्तिवाचन करें ।

तत्पश्चात् पिता, आचार्य, पुरोहित जो विद्वान् हों, अथवा उन के अभाव में यदि वधू-वर विद्वान् वेदवित् हों तो वे ही दोनों पृ० ७-११ में लिखे प्रमाणे **स्वस्तिवाचन का पाठ** बड़े प्रेम से करें ।

पाठ हुए पश्चात् कार्यार्थ आये हुए स्त्री-पुरुष सब-

ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ॥

इस वाक्य को बोलें ।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता, पिता, चाचा, भाई आदि पुरुषों को तथा माता, चाची, भगिनी आदि स्त्रियों को यथावत् सत्कार करके विदा करें ।

तत्पश्चात् यदि किसी विशेष कारण से श्वशुरगृह में गर्भाधान-संस्कार न हो सके तो वधू-वर क्षार-आहार और विषय-तृष्णारहित व्रतस्थ होके पृष्ठ २७-२८ में लिखे प्रमाणे विवाह के चौथे दिवस में गर्भाधान संस्कार करें । अथवा उस दिन ऋतुकाल न हो, तो किसी दूसरे दिन गर्भस्थापन करें और जो वर दूसरे देश से विवाह के लिए आया हो तो वह जहाँ जिस स्थान में विवाह करने के लिये जाकर उतरा हो, उसी स्थान में गर्भाधान करे ।

पुनः अपने घर आके पति, सासु, स्वशुर, ननन्द, देवर देवराणी, ज्येष्ठ-जेठानी आदि कुटुम्ब के मनुष्य वधू की पूजा, अर्थात् सत्कार करें । सदा प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्त्तें और मधुरवाणी, वस्त्र, आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें तथा वधू भी सब को प्रसन्न रक्खे और वर उस वधू के साथ पत्नीव्रतादि सद्धर्म से वर्ते तथा पत्नी भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म चाल-चलन से सदा पति की आज्ञा में तत्पर और उत्सुक रहे तथा वर भी स्त्री की सेवा-प्रसन्नता में तत्पर रहे ॥

॥ इति विवाहसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[१३]

अथ गृहाश्रमसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'गृहाश्रम-संस्कार' उस को कहते हैं कि जो **ऐहिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन, मन, धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी ।**

अत्र प्रमाणानि—

सोमो वधूयुरभवद् अश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात् ॥१॥
इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥२॥

अर्थः—(सोमः) सुकुमार शुभगुणयुक्त, (वधूयुः) वधू की कामना करनेहारा पति तथा वधू पति की कामना करनेहारी (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त (अभवत्) होवें और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ तुल्य गुण, कर्म, स्वभाववाले (आस्ताम्) होवें । ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुणयुक्त, (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण-कीर्त्तन करनेवाली वधू है उस को पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (ददात्) देता है, अर्थात् **बड़े भाग्य से दोनों स्त्री-पुरुषों का, जो कि तुल्य गुण, कर्म, स्वभाव हों, जोड़ा मिलता है ॥१॥**

हे स्त्रि और पुरुष ! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है, जिस को तुम दोनों ने स्वीकार किया है, (इहैव) इसी में (स्तम्) तत्पर रहो, (मा वियौष्टम्) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ । (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके सम्पूर्ण आयु, जो १०० सौ वर्षों से कम नहीं है, उस को प्राप्त होओ और पूर्वोक्त धर्मरीति से (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ) उत्तम गृहवाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो ॥२॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥३॥
स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥४॥
या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि ।
वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥५॥
आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥६॥

अर्थः—हे वरानने ! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने तथा (प्रतरणी) दोष और शोकादि से पृथक् रहनेहारी, (गृहाणाम्) गृह-कार्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुखयुक्त होके (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और श्वश्र्वै) सासु के लिए (शम्भूः) सुखकर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुखपूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर ॥३॥

हे वधू ! तू (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादि के लिये (स्योना) सुखदाता, (पत्ये) पति के लिये (स्योना) सुखदाता, और (गृहेभ्यः) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिये (स्योना) सुखदायक (भव) हो । और (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद, और (एषाम्) इन के (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर (भव) हो ॥४॥

(याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा (युवतयः) जवान स्त्रियां, (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में (जरतीः) बुड्ढी=वृद्ध दुष्ट स्त्रियां हों, वे (अपि) भी (अस्यै) इस वधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेज (सं दत्त) देवें । (अथ) इसके पश्चात् (अस्तम्) अपने-अपने घरों को (विपरेतन) चली जावें, और फिर इस के पास कभी न आवें ॥५॥

हे वरानने ! तू (सुमनस्यमाना) प्रसन्नचित्त होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आरोह) चढ़के शयन कर । और (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रहकर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर । (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानी (बुध्यमाना) उत्तम शिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव) सूर्य की कान्ति के समान तू (उषसः) उषःकाल से (अग्रा) पहली (ज्योतिः) ज्योति के तुल्य (प्रति जागरासि) प्रत्यक्ष सब कामों में जागती रह ॥६॥

**देवा अग्रे न्यपिद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥७॥
सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
मर्य इव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥८॥
तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥९॥**

अर्थः—हे सौभाग्यप्रदे (नारि) तू जैसे (इह) इस गृहाश्रम में (अग्रे) प्रथम (देवाः) विद्वान् लोग (पत्नीः) उत्तम स्त्रियों को (न्यपद्यन्त) प्राप्त होते हैं, और (तनूभिः) शरीरों से (तन्वः) शरीरों को (समस्पृशन्त) स्पर्श करते हैं, वैसे (विश्वरूपा) विविध सुन्दररूप को धारण करनेहारी, (महित्वा) सत्कार को प्राप्त होके (सूर्येव) सूर्य की कान्ति के समान (पत्या) अपने स्वामी के साथ मिलके (प्रजावती) प्रजा को प्राप्त होनेहारी (सम्भव) अच्छे प्रकार हो ॥७॥

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम (पितरौ) बालकों के जनक (ऋत्विये) ऋतुसमय में सन्तानों को (संसृजेथाम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न करो । (माता) जननी (च) और (पिता) जनक दोनों (रेतसः) वीर्य को मिलाकर गर्भाधान करनेहारे (भवाथः) हूजिये। हे पुरुष ! (एनाम्) इस (योषाम्) अपनी स्त्री को (मर्य इव) प्राप्त होनेवाले पति के समान (अधि रोहय) सन्तानों से बढ़ा । और दोनों (इह) इस गृहाश्रम में मिलके (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वाथाम्) उत्पन्न करो । (पुष्यतम्) पालन-पोषण करो, और पुरुषार्थ से (रयिम्) धन को प्राप्त होओ ॥८॥

हे (पूषन्) वृद्धिकारक पुरुष ! (यस्याम्) जिस में (मनुष्याः) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य को (वपन्ति) बोते हैं, (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (ऊरू) ऊरू को सुन्दरता से (विश्रयाति) विशेषकर आश्रय करती है, (यस्याम्) जिस में (उशन्तः) सन्तानों की कामना करते हुए हम (शेपः) उपस्थेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहरण करते हैं, (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करनेहारी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिये (एरयस्व) प्रेम से प्रेरणा कर ॥९॥

**स्योनाद् योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥१०
इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥११॥**

ज॒नि॒यन्ति॑ ना॒वग्र॑वः पु॒त्रि॒यन्ति॑ सु॒दान॑वः ।
अरि॑ष्टासू सचेवहि बृ॒ह॒ते वाज॑सातये ॥१२॥

अर्थः—हे स्त्रि और पुरुष ! जैसे सूर्य (विभातीः) सुन्दर प्रकाशयुक्त (उषसः) प्रभात वेला को प्राप्त होता है, वैसे (स्योनात्) सुख से (योनेः) घर के मध्य में (अधि बुध्यमानौ) सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को अच्छे प्रकार जाननेहारे, सदा (हसामुदौ) हास्य और आनन्दयुक्त, (महसा) बड़े प्रेम से (मोदमानौ) अत्यन्त प्रसन्न हुए, (सुगू) उत्तम चाल चलने से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छे प्रकार चलनेहारे, (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रवाले, (सुगृहौ) श्रेष्ठ गृहादि सामग्रीयुक्त (जीवौ) उत्तम प्रकार जीवों को धारण करते हुए (तराथः) गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ॥१०॥

हे (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त विद्वन् राजन् ! आप (इह) इस संसार में (इमौ) इन स्त्रीपुरुषों को समय पर विवाह करने को आज्ञा और ऐसी व्यवस्था दीजिये कि जिस से कोई स्त्री-पुरुष पृष्ठ ७९-८२ में लिखे प्रमाण से पूर्व वा अन्यथा विवाह न कर सकें, वैसे (सं नुद) सब को प्रसिद्धि से प्रेरणा कीजिए जिस से ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा को पाके (दम्पती) जाया और पति (चक्रवाकेव) चकवा चकवी के समान एक-दूसरे से प्रेमबद्ध रहें। और गर्भाधानसंस्कारोक्तविधि से (प्रजया) उन्नत हुई प्रजा से (एनौ) ये दोनों (स्वस्तकौ) सुखयुक्त होके (विश्वम्) **सम्पूर्ण १०० सौ वर्षपर्यन्त (आयुः) आयु को (व्यश्नुताम्) प्राप्त होवें** ॥११॥

हे मनुष्यो ! जैसे (सुदानवः) विद्यादि उत्तम गुणों के दान करनेहारे (अग्रवः) उत्तम स्त्री-पुरुष (जनियन्ति) पुत्रोत्पत्ति करते और (पुत्रीयन्ति) पुत्र की कामना करते हैं, वैसे (नौ) हमारे भी सन्तान उत्तम होवें। तथा (अरिष्टासू) बल, प्राण का नाश न करनेहारे होकर (बृहते) बड़े (वाजसातये) परोपकार के अर्थ विज्ञान और अन्न आदि के दान के लिए (सचेवहि) कटिबद्ध सदा रहें, जिस से हमारे सन्तान भी उत्तम होवें ॥१२॥

प्र बु॑ध्यस्व सु॒बु॒धा॒ बुध्य॑माना दी॒र्घा॒यु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ।
गृ॒हान् ग॑च्छ गृ॒हप॑त्नी॒ यथासो॑ दी॒र्घं त॒ आयुः॑ स॒वि॒ता कृ॑णोतु ॥१३॥
सहृ॑दयं सांम॒न॒स्यमवि॑द्वेषं कृणोमि वः ।
अ॒न्यो अ॒न्यम॒भि ह॑र्यत व॒त्सं जा॒तमि॑वा॒घ्न्या ॥१४॥

अर्थः—हे पत्नी ! तू (शतशारदाय) शतवर्ष पर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घकाल जीने के लिए (सुबुधा) उत्तम बुद्धियुक्त, (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और (गृहपत्नी) मुझ घर

के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घकाल-पर्यन्त (आयुः) जीवन (आसः) होवे, वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान। इस अपनी आशा को (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देनेहारा परमात्मा (कृणोतु) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे। जिस से तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ।।१३।।

हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर तुम को जैसी आज्ञा देता हूं, वैसा ही वर्तमान करो, जिस से तुम को अक्षय सुख हो। अर्थात् (वः) तुम्हारा (सहृदयम्) जैसी अपने लिए सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो, वैसे माता-पिता सन्तान स्त्री-पुरुष भृत्य मित्र पाड़ोसी और अन्य सब से समान हृदय रहो। (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता, और (अविद्वेषम्) वैर-विरोधादिरहित व्यवहार को तुम्हारे लिये (कृणोमि) स्थिर करता हूं। तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है, वैसे (अन्यो अन्यम्) एक-दूसरे से (अभि हर्यत) प्रेमपूर्वक कामना से वर्त्ता करो ।।१४।।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान् ।।१५।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।१६।।

अर्थः—हे गृहस्थो ! जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) प्रीतियुक्त मनवाला, (अनुव्रतः) अनुकूल आचरणयुक्त, (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेमवाला (भवतु) होवे, वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्त्ता करो। जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमतीम्) माधुर्यगुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे, वैसे पति भी (शन्तिवान्) शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे ।।१५।।

हे गृहस्थो ! तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे। (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करे। तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो, किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण, कर्म, स्वभाववाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक-दूसरे के साथ (वाचम् सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो ।।१६।।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥१७॥

अर्थः—हे गृहस्थो ! मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न वियन्ति) पृथक् भाववाले नहीं होते, (च) और (नो विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते, (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूं । (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) अच्छे प्रकार चिताता हूं कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त कर बड़े (ब्रह्म) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ ॥१७॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥१८

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादि-गुणयुक्त, (चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान, (सधुराः) धुरन्धर होकर (चरन्तः) विचरते, और (संराधयन्तः) परस्पर मिलके धन-धान्य राज्यसमृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा वियौष्ट) विरोधी वा पृथक्-पृथक् भाव मत करो। (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुर भाषण (वदन्तः) कहते हुए एक-दूसरे को (एत) प्राप्त होओ । इसीलिये (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक-दूसरे के सहायक, (संमनसः) ऐकमत्यवाले (वः) तुम को (कृणोमि) करता हूं, अर्थात् मैं ईश्वर तुम को जो आज्ञा देता हूं, इस को आलस्य छोड़कर किया करो ॥१८॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥१९॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥२०॥

—अथर्व० कां० ३। सू० ३० । मन्त्र १-७॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एक सा हो । (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) खान-पान (सह) साथ हुआ करे । (वः) तुम्हारे (समाने) एक से (योक्त्रे) अश्वादि यान के जोते (सह) संगी हों । और तुम को मैं धर्म्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके (युनज्मि) नियुक्त करता हूं । जैसे (आराः) चक्र के आरे (अभितः) चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं, अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिलके (अग्निम्) अग्नि

आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं, वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्तिवाले तुम मिलके धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत) एक-दूसरे का हित सिद्ध किया करो ॥१९॥

हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मैं ईश्वर (वः) तुम को (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान, (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी, (एकश्रुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होनेवाले (सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक-दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूं । तुम (देवा इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायंप्रातः) सन्ध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक-दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो। ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे ॥२०॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिताः ॥२१॥
सत्येनावृताः श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ॥२२॥
स्वधया परिहिताः श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता
यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥२३॥

अर्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! मैं ईश्वर तुम को आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टाः) संयुक्त, (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में, और (ऋते) यथार्थ पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म में (श्रिताः) चलनेहारे सदा बने रहो ॥२१॥

(सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृताः) चारों ओर से युक्त, (श्रिया) शोभा तथा लक्ष्मी से (प्रावृताः) युक्त, (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृताः) सब ओर से संयुक्त रहा करो ॥२२॥

(स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी, (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढाः) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त करानेहारे, (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित, (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो । और इन्हीं कर्मों से (निधनं लोकः) इस मनुष्यलोक को प्राप्त होके मृत्युपर्यन्त सदा आनन्द में रहो ॥२३॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥२४॥

अर्थः–हे मनुष्यो ! तुम जो (ओजः) पराक्रम (च) और इस की सामग्री, (तेजः) तेजस्वीपन (च) और इस की सामग्री, (सहः) स्तुति–निन्दा हानि–लाभ तथा शोकादि का सहन (च) और इस के साधन, (बलं च) बल और इस के साधन, (वाक् च) सत्य प्रिय वाणी और इस के अनुकूल व्यवहार, (इन्द्रियं च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता, (श्रीश्च) लक्ष्मी सम्पत्ति और इस की प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग, (धर्मश्च) पक्षपातरहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म और जो इस के साधन वा लक्षण हैं, उन को तुम प्राप्त होके इन्हीं में सदा वर्त्ता करो ॥२४॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥२५॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥२६॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥२७॥

–अथर्व० कां० १२। अ० ५। वर्ग १–२॥

अर्थः–हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम को योग्य है कि (ब्रह्म च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुणयुक्त मनुष्य और सब के उपकारक शम, दमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल, (क्षत्रं च) विद्यादि उत्तम गुणयुक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रियकुल (राष्ट्रं च) राज्य और उस का न्याय से पालन, (विशश्च) उत्तम प्रजा और उस की उन्नति, (त्विषिश्च) सद्विद्यादि से तेज आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान, और इस की उन्नति से (यशश्च) कीर्तियुक्त तथा इस के साधनों को प्राप्त हुआ करो । (वर्चश्च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उस का नित्य पढ़ना,(द्रविणं च) द्रव्योपार्जन उस की रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ॥२५॥

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम अपना (आयुः) जीवन बढ़ाओ, (च) और सब जीवन में धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो । (रूपं च) विषयासक्ति कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो, (नाम च) नामकरण के पृष्ठ ४९–५२ में लिखे प्रमाणे शास्त्रोक्त संज्ञाधारण और उसके नियमों को भी (कीर्तिश्च) सत्याचरण से प्रशंसा का धारण, और गुणों में दोषारोपण रूप निन्दा को छोड़ दो । (प्राणश्च) चिरकालपर्यन्त जीवन का धारण और

उस के युक्ताहार विहारादि साधन, (अपानश्च) सब दुःख दूर करने का उपाय और उस की सामग्री, (चक्षुश्च) प्रत्यक्ष और अनुमान उपमान, (श्रोत्रं च) शब्दप्रमाण और उस की सामग्री को धारण किया करो ।।२६।।

हे गृहस्थ लोगो ! (पयश्च) उत्तम जल दूध और इस का शोधन और युक्ति से सेवन, (रसश्च) घृत दूध मधु आदि और इस का युक्ति से आहार–विहार, (अन्नं च) उत्तम चावल आदि अन्न और उस के उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यं च) खाने योग्य पदार्थ और उस के साथ उत्तम दाल, शाक, कढ़ी आदि, (ऋतं च) सत्य मानना और सत्य मनवाना, (सत्यं च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टं च) यज्ञ करना और कराना, (पूर्त्तं च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आरामवाटिका आदि का बनाना और बनवाना, (प्रजा च) प्रजा की उत्पत्ति पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी, (पशवश्च) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिये ।।२७।।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।१।।

—य० अ० ४० । मन्त्र २ ।।

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिए आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ होके (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं समाः) १०० सौ वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे। (एवम्) इसी प्रकार उत्तम कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटा पापरूप (कर्म) दुःखद कर्म (न लिप्यते) लिप्यमान कभी नहीं होता, और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ । इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता । इसलिये तुम स्त्रीपुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो ।।१।।

पुनः स्त्रीपुरुष सदा निम्नलिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें । वे मन्त्र ये हैं—

भूर्भुवः स्वः। सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शꣳस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ।।२।।
गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ।।३।।

—यजु० अ० ३ । मन्त्र ३७, ४१ ।।

अर्थः—हे स्त्री वा पुरुष ! मैं तेरा वा अपने के सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त होके (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त (स्याम्) होऊं। (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सम्बन्धी और भृत्यों से सह वर्तमान (सुवीरः) उत्तम वीरों से सहित होऊँ। (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टियुक्त होऊँ। हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन्! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन्! आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये। हे (अथर्य) अहिंसक दयालो स्वामिन्! (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिये। वैसे हे नारी ! प्रशंसनीय गुणयुक्त तू मेरी प्रजा मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर ।।२।।

हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो ! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से (मा बिभीत) मत डरो, (मा वेपध्वम्) मत कम्पायमान होओ। (ऊर्ज्जम्) अन्न पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन-स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो। इस लिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है। हे वरानने ! जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोदमानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्न मन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त मुझ को, और हे मेरे पूजनीयतम पिता अदि लोगो ! (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ तुम (गृहान् गृहस्थों को (आ एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न होके वर्ता करो ।।३।।

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॑न्॒ येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः ।
गृ॒हानुप॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ।।४।।
उप॑हूता॒ऽ इ॒ह गाव॒ऽ उप॑हूता अजा॒वयः॑ ।
अथो॒ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ऽ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ।
क्षेमा॑य वः शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शं॒योः शं॒योः ।।५।।

—यजु० अध्याय ३। मं० ४२, ४३ ।।

अर्थ—हे गृहस्थो ! (प्रवसन्) परदेश को गया हुआ मनुष्य (येषाम्) जिन का (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) बहुत (सौमनसः) प्रीति होती है, उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उपह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीपस्थ बुलाते हैं। (ते)

वे गृहस्थ लोग (जानतः) उन को जाननेवाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुहृद् जानें। वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिलके पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें।।४।।

हे गृहस्थो ! (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, तथा (अजावयः) बकरी भेड़ आदि दूध देनेवाले पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, (अथो) इस के अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवे, हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें। हे गृहस्थो! मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्त्यै) निरुपद्रवता करने के लिये (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं। मैं और आप लोग प्रीति से मिलके (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यावहारिक सुख और (शंयोः शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त होके अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें।।५।।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।।१।।
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ।।२।। —मनु० ।।

अर्थ—हे गृहस्थो ! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है।।१।।

यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रक्खे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न होके सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं।।२।।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद् रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ।।३।। —मनु० ।।

अर्थ—और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुलभर अप्रसन्न=शोकातुर रहता है और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है, तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है।।३।।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ।।४।।
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।।५।।
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ।।६।।

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥७॥ —मनु०॥

अर्थ—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें, अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें, जिन को कल्याण की इच्छा हो, वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ॥४॥

जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहां जानो उन की सब क्रिया निष्फल हैं ॥५॥

जिस कुल में स्त्री लोग अपने-अपने पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है । और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥६॥

जिन कुल और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रीलोग जिन गृहस्थों को शाप देती हैं, वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को नाश कर देवें, वैसे चारों ओर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं॥७॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥८॥ —मनु० ॥

अर्थ—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण वस्त्र खान-पान आदि से सदा पूजा अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रक्खें ॥८॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥९॥ —मनु० ॥

अर्थ—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और घर के भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे, उस के यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे ॥९॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥१०॥

अर्थ—यदि स्त्रियाँ दुष्टाचारयुक्त भी हों तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट हो गईं, होती हैं और होंगी भी । इसलिए यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियाँ श्रेष्ठ और दुष्ट हों तो दुष्ट हो जाती हैं । इस से प्रथम मनुष्यों को उत्तम होके अपनी

स्त्रियों को उत्तम करना चाहिए ।।१०।।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन।।११।।
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ।।१२।।
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ।।१३।।
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ।।१४।।

—मनु०।।

अर्थ—हे पुरुषो ! सन्तानोत्पत्ति के लिये महाभाग्योदय करनेहारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने करानेहारी घरों में स्त्रियां हैं, वे श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं । क्योंकि लक्ष्मी शोभा धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है ।।११।।

हे पुरुषो ! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोकव्यवहार को नित्यप्रति, जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है, उस का निबन्ध करनेवाली प्रत्यक्ष स्त्री है ।।१२।।

सन्तानोत्पत्ति, धर्म-कार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, वह सब स्त्री ही के आधीन होता है ।।१३।।

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्तमान सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह गृहस्थ के आश्रय से होता है ।।१४।।

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ।।१५।।
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ।।१६।।
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ।।१७।।

अर्थ—जिस से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न, वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण पोषण करता है, इसलिये व्यवहार में गृहाश्रम सब से बड़ा है ।।१५।।

हे स्त्रीपुरुषो ! जो तुम अक्षय* मुक्ति–सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है, उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो ॥१६॥

वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है, क्योंकि यही आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है ॥१७॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥१८॥
उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥१९॥
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीनं हीने समे समम् ॥२०॥
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥२१॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! जैसे सब बड़े–बड़े नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं ॥१८॥

यदि गृहस्थ होके पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं । क्योंकि अन्य से अन्नादि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं ॥१९॥

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें, तब आसन, निवास, शय्या, पश्चाद् गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा, अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे । ऐसा न हो कि इसे कभी न समझें ॥२०॥

किन्तु जो पाखण्डी वेदनिन्दक नास्तिक ईश्वर वेद और धर्म को न मानें, अधर्माचरण करनेहारे, हिंसक, शठ, मिथ्याभिमानी, कुतर्की और वकवृत्ति, अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान अतिथिवेशधारी बनके आवें, उन का वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे ॥२१॥

---

* अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है, उतने समय में दुःख का संयोग, जैसा विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है, वैसा नहीं होता।

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेषो दशवेषसमो नृपः ॥२२॥
न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥२३॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवाऽऽरमेत् सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥२४॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥२५॥ —मनु० ॥

अर्थ—दश हत्या के समान चक्र अर्थात् कुम्हार, गाड़ी से जीविका करनेहारे, दश चक्र के समान ध्वज अर्थात् धोबी, मद्य को निकाल कर बेचनेहारे, दश ध्वज के समान वेष अर्थात् वेश्या, भड़ुआ भांड, दूसरे की नकल अर्थात् पाषाणमूर्तियों के पूजक (=पूजारी) आदि और दश वेष के समान जो अन्यायकारी राजा होता है, उन के अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी न करें ।।२२।।

गृहस्थ जीविका के लिये भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्त्ताव न वर्त्ते । किन्तु जिस में किसी प्रकार की कुटिलता, मूर्खता, मिथ्यापन वा अधर्म न हो, उस वेदोक्त कर्म-सम्बन्धी जीविका को करे ।।२३।।

सत्य, धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच=पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें और सत्यवाणी, भोजनादि के लोभरहित, हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें ।।२४।।

यदि बहुत सा धन, राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें । और वेदविरुद्ध धर्माभास जिस के करने से उत्तरकाल में दुःख और संसार की उन्नति का नाश हो, वैसा नाममात्र धर्म और कर्म कभी न किया करें ।।२५।।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥२६॥
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥२७॥
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥२८॥

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥२९॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥३०॥
तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥३१॥ —मनु० ॥

अर्थ—जो धर्म ही से पदार्थों का सञ्चय करना है, वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता, अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता, वही पवित्र है । किन्तु जल–मृत्तिकादि से जो पवित्रता होती है, वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है ॥२६॥

विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्सङ्ग और विद्यादि शुभ गुणों के दान से, गुप्त पाप करनेहारे विचार से त्याग कर और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं ॥२७॥

किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं। मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं ॥२८॥

गृहस्थ लोग छोटों बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम १० दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (=नैयायिक), तर्ककर्त्ता, नैरुक्त (=निरुक्तशास्त्रज्ञ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों, अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् (=ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो, वैसा ही आचरण किया करें ॥२९॥

और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं, वैसा सब लोग जानें, क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन अर्थात् नियम में रखने वाला, दण्ड ही सब का सब ओर से रक्षक और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है । चोरादि दुष्ट भी दण्ड ही के भय से पापकर्म नहीं कर सकते ॥३०॥

उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलानेहारे उस राजा को कहते हैं कि जो सत्यवादी, विचार करके ही कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान्, विद्वान्, धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जाननेहारा हो ॥३१॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३२॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥३३॥
अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महद् आप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥३४॥

अर्थ—जो राजा उत्तम सहायरहित, मूढ़, लोभी, जिस ने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की, जो विषयों में फंसा हुआ है, उस से वह दण्ड कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥३२॥

इसलिए जो पवित्र, सत्पुरुषों का सङ्गी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो, वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है ॥३३॥

जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता, और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक अर्थात् महादुःख को पाता है ॥३४॥

मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥३५॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥३६॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥३७॥

अर्थ—जिस राजा में शिकार खेलना, द्यूत और प्रसन्नता के लिए भी चौपड़ आदि खेलना, दिन में सोना, हंसी ठट्ठा, मिथ्यावाद करना, स्त्रियों के साथ सदा अधिक निवास में मोहित होना, मद्यपानादि नशाओं का करना, गाना, बजाना, नाचना वा इन का देखना और वृथा इधर-उधर घूमते फिरना, ये दश दुर्गुण काम से होते हैं ॥३५॥

और चुगली खाना, विना विचारे काम कर बैठना, जिस किसी से वृथा वैर बांधना, दूसरे की स्तुति सुन वा बढ़ती देखके हृदय में जला करना, दूसरों के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, बुरे कामों में धन का लगाना, क्रूर वाणी और विना विचारे पक्षपात से किसी को करडा दण्ड देना, ये आठ दोष क्रोधी पुरुष में उत्पन्न होते हैं । ये १८ अठारह दुर्गुण हैं, इन को राजा अवश्य छोड़ देवे ॥३६॥

और जो इन कामज और क्रोधज १८ अठारह दोषों के मूल जिस लोभ को सब विद्वान् लोग जानते हैं, उस को प्रयत्न से राजा जीते,

क्योंकि लोभ ही से पूर्वोक्त १८ अठारह और अन्य दोष भी बहुत से होते हैं । इसलिए हे गृहस्थ लोगो ! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो, परन्तु ऐसे दोषवाले मनुष्य को राजा कभी न करना । यदि भूल से हुआ हो तो उस को राज्य से च्युत करके किसी योग्य पुरुष को, जो कि राजा के कुल का हो, राज्याधिकारी करना, तभी प्रजा में आनन्द-मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा ।।३७।।

सैन्यापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।।३८।।
मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ।।३९।।
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄन् अमात्यान् सुपरीक्षितान् ।।४०।।

अर्थ–जो वेदशास्त्रवित् धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे, उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधान पद का अधिकार देना, अन्य क्षुद्राशयों को नहीं ।।३८।।

और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जाननेहारे शूरवीर, जिन का विचार निष्फल न होवे, कुलीन धर्मात्मा स्वराज्यभक्त हों, उन ७ सात वा ८ आठ पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे और इन्हीं की सभा में आठवाँ वा नववाँ राजा हो । ये सब मिलके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें ।।३९।।

इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी, जितने पुरुषों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके, उतने ही पवित्र धार्मिक विद्वान् चतुर स्थिरबुद्धि पुरुषों को राज्य-सामग्री के वर्धक नियत करे ।।४०।।

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ।।४१।।
अलब्धमिच्छेद् दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ।।४२।। –मनु०।।

अर्थ–जो सब शास्त्र में निपुण, नेत्रादि के सङ्केत, स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जाननेहारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देशकाल को जाननेहारा, सुन्दर जिस का स्वरूप, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो, उस और स्वराज्य और पर-राज्य के समाचार देनेहारे अन्य दूतों को भी नियत करे ।।४१।।

तथा राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा दण्ड से, और प्राप्त राज्य की रक्षा संभाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा, और सुपात्रों के द्वारा सत्य विद्या और सत्य धर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सब की उन्नति सदा किया करें ।।४२।।

विधि—सदा स्त्रीपुरुष १० दश बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए युक्त आहार-विहार, औषधसेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना भी किया करें कि जिस से परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें। इस के लिए निम्नलिखित मन्त्र हैं—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम[1] ।।१।।
प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह[2] ।।२।।

---

१. हे स्त्रीपुरुषो ! जैसे हम विद्वान् उपदेशक लोग (प्रातः) प्रभात वेला में (अग्निम्) स्वप्रकाशस्वरूप (प्रातः) (इन्द्रम्) परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्ययुक्त, (प्रातः) (मित्रावरुणा) प्राण उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान्, (प्रातः) (अश्विना) सूर्य चन्द्र को जिस ने उत्पन्न किया है, उस परमात्मा की (हवामहे) स्तुति करते हैं, और (प्रातः) (भगम्) भजनीय सेवनीय ऐश्वर्ययुक्त, (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता, (ब्रह्मणस्पतिम्) अपने उपासक वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे, (प्रातः) (सोमम्) अन्तर्यामि प्रेरक (उत) और (रुद्रम्) पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हुवेम) स्तुति-प्रार्थना करते हैं, वैसे प्रातः समय में तुम लोग भी किया करो ।।१।।

२. (प्रातः) पांच घड़ी रात्रि रहे (जितम्) जयशील (भगम्) ऐश्वर्य के दाता, (उग्रम्) तेजस्वी, (अदितेः) अन्तरिक्ष के (पुत्रम्) पुत्ररूप सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे, और (यः) जो कि सूर्यादि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष करके धारण करनेहारा (आध्रः) सब ओर से धारणकर्ता, (यं चित्) जिस किसी का भी (मन्यमानः) जाननेहारा, (तुरश्चित्) दुष्टों को भी दण्डदाता, और (राजा) सब का प्रकाशक है, (यम्) जिस (भगम्) भजनीयस्वरूप को

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम[१] ॥३॥
उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम[२] ॥४॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह[३] ॥५॥

—ऋ० मं० ७ । सू० ४१ ॥

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना करनी ॥

(चित्) भी (भक्षीति) इस प्रकार सेवन करता हूं, और इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर सब को (आह) उपदेश करता है कि तुम, जो मैं सूर्यादि जगत् का बनाने और धारण करनेहारा हूं, उस=मेरी उपासना किया करो, और मेरी आज्ञा में चला करो, इस से (वयम्) हम लोग उस की (हुवेम) स्तुति करते हैं ॥२॥

१. हे (भग) भजनीयस्वरूप, (प्रणेतः) सब के उत्पादक, सत्याचार में प्रेरक, (भग) ऐश्वर्यप्रद (सत्यराधः) सत्य धन को देनेहारे, (भग) सत्याचरण करनेहारों को ऐश्वर्यदाता आप परमेश्वर ! (नः) हम को (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) दीजिये, और उस के दान से हमारी (उदव) रक्षा कीजिये । हे (भग) आप (गोभिः) गाय आदि और (अश्वैः) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्यश्री को (नः) हमारे लिये (प्रजनय) प्रकट कीजिये, हे (भग) आप की कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्यवाले (प्र स्याम) अच्छे प्रकार होवें ॥३॥

२. हे भगवन् ! आप की कृपा (उत) और अपने पुरुषार्थ से हम लोग (इदानीम्) इसी समय (प्रपित्वे) प्रकर्षता=उत्तमता की प्राप्ति में (उत) और (अह्नाम्) इन दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः) ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिमान् (स्याम) होवें, (उत) और हे (मघवन्) परमपूजित असंख्य धन देनेहारे ! (सूर्यस्य) सूर्यलोक के (उदिता) उदय में (देवानाम्) पूर्ण विद्वान् धार्मिक आप्त लोगों की (सुमतौ) अच्छी उत्तम प्रज्ञा (उत) और सुमति में (वयम्) हम लोग (स्याम) सदा प्रवृत्त रहें ॥४॥

३. हे (भग) सकलैश्वर्यसम्पन्न जगदीश्वर ! जिस से (तम्) उस (त्वा) आप की (सर्वः) सब सज्जन (इज्जोहवीति) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं, (सः) सो आप हे (भग) ऐश्वर्यप्रद ! (इह) इस संसार और (नः) हमारे गृहाश्रम में (पुर एता) अग्रगामी और आगे-आगे सत्यकर्मों में बढ़ानेहारे (भव) हूजिए; और जिस से (भग एव) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त और समस्त ऐश्वर्य के दाता होने से आप ही हमारे **(भगवान्) पूजनीय देव** (अस्तु) हूजिए, (तेन) उसी हेतु से (देवाः वयम्) हम विद्वान् लोग (भगवन्तः) सकलैश्वर्यसम्पन्न होके सब संसार के उपकार में तन, मन, धन से प्रवृत्त (स्याम) होवें ॥५॥

तत्पश्चात् शौच, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जंगल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर, सूर्योदय-पर्यन्त अथवा घड़ी, आध घड़ी दिन चढ़े तक घर में आके, सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें। **इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें।** प्रथम शरीरशुद्धि, अर्थात् स्नान-पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करें।

आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेके-

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों में से एक-एक से एक-एक आचमन कर, दोनों हाथ धो, कान, आँख, नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके, शुद्ध देश, पवित्रासन पर, जिधर की ओर का वायु हो, उधर को मुख करके, नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके हृदय के वायु को बल से बाहर निकालके यथाशक्ति रोके। पश्चात् धीरे-धीरे भीतर लेके भीतर थोड़ा सा रोके। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे। नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना हृदय में करके-

ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑।
शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ —यजुः अ० ३६।

इस मन्त्र को एक वार पढ़के तीन आचमन करे। पश्चात् पात्र में से मध्यमा अनामिका अंगुलियों से जलस्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम अङ्गों का निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करे-

ओं वाक् वाक् ॥ इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वाम पार्श्व।
ओं प्राणः प्राणः ॥ इस से दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र।
ओं चक्षुश्चक्षुः ॥ इस से दक्षिण और वाम नेत्र
ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् ॥ इस से दक्षिण और वाम श्रोत्र।
ओं नाभिः ॥ इस से नाभि।
ओं हृदयम् ॥ इस से हृदय।
ओं कण्ठः ॥ इस से कण्ठ।
ओं शिरः ॥ इस से मस्तक।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ॥ इस से दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध, और—

ओं करतलकरपृष्ठे ॥ इस से दोनों हाथों के ऊपर-तले स्पर्श करके, मार्जन करे—

ओं भूः पुनातु शिरसि ॥ इस मन्त्र से शिर पर ।
ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर ।
ओं स्वः पुनातु कण्ठे ॥ इस मन्त्र से कण्ठ पर ।
ओं महः पुनातु हृदये ॥ इस मन्त्र से हृदय पर ।
ओं जनः पुनातु नाभ्याम् ॥ इस से नाभि पर ।
ओं तपः पुनातु पादयोः ॥ इस से दोनों पगों पर ।
ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ॥ इस से पुनः मस्तक पर ।
ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥ इस मन्त्र से सब अङ्गों पर छींटा देवे।

पुनः पूर्वोक्त रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे, और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जाय—

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम् ॥

इसी रीति से कम से कम ३ तीन और अधिक से अधिक २१ इक्कीस प्राणायाम करे ।

तत्पश्चात् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार नीचे लिखित मन्त्रों से करे और जगदीश्वर को सर्वव्यापक न्यायकारी सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मानके पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे, किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्तमान रक्खे—

ओम् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

—ऋ० मं० १०। सू० १९०॥

इन मन्त्रों को पढ़के पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से ३ तीन आचमन करके निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति—

प्रार्थना करे—

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥

—अथर्व० का० ३। सू० २७। मं० १-६ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना, और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को पूर्ण जान कर निर्भय निश्शङ्क उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना ।

तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान, अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अतिनिकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके करे—

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥१॥

—ऋ० मं० १। सू० ९९। मं० १॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥

—यजुः अ० १३। मं० ४६॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥२॥ —यजुः अ० ३३। मन्त्र ३१॥
उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१॥
—यजुः अ० ३५। मन्त्र १४॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥ —यजुः अ० ३६। मं० २४॥

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके, पुनः (शन्नो देवी०) इस से ३ तीन आचमन करके, पृष्ठ **७२-७३ में लिखे प्रमाणे,** अथवा पञ्चमहायज्ञविधि में लिखे प्रमाणे **गायत्रीमन्त्र का अर्थ**-विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुतिप्रार्थनोपासना करे । पुनः—

"हे परमेश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें ।" पुनः—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

—यजुः अ० १६। मं० ४१॥

इस से परमात्मा को नमस्कार करके, **(शन्नो देवी०) इस मन्त्र से** ३ तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करे ॥

इति संक्षेपतः सन्ध्योपासनविधिः समाप्तः ॥१॥

अथाग्निहोत्रम्

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें, इसी प्रकार दोनों स्त्री-पुरुष* अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें। पृष्ठ १९ में लिखे प्रमाणे **अग्न्याधान समिदाधान,** और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे **(ओम् अदितेऽनुमन्यस्व)** इत्यादि ४ चार मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जल-प्रोक्षण करके, शुद्ध किये हुए सुगन्ध्यादियुक्त घी को तपाके पात्र में लेके, कुण्ड से पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ३१ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति** ४ चार देके, नीचे

* किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक ही स्त्री वा पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो बार पढ़के दो-दो आहुति करे ।

लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करे—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥१॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥३॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥४॥

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥

ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥३॥

इस मन्त्र को मन से उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥[३]

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातःसायं आहुति देनी चाहिए ।

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ इदमग्नये प्राणाय इदं न मम ॥१॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ इदं वायवेऽपानाय इदं न मम॥२॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ इदमादित्याय व्यानाय इदं न मम ॥३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः इदं न मम ॥४॥

ओम् आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥५॥

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥६॥ —यजुः अ० ३२। मं० १४॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रन्तन्नऽ आ सुव स्वाहा ॥७॥ —यजुः० अ० ३०। मं० ३॥

ओम् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा ॥८॥ —यजुः अ० ४०। मं० १६॥

इन ८ आठ मन्त्रों से एक–एक मन्त्र करके एक–एक आहुति

देनी, ऐसे ८ आठ आहुति देके—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ॥

इस मन्त्र से ३ तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक-एक वार पढ़के एक-एक करके ३ तीन आहुति देवे ॥

॥ इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः ॥२॥

अथ पितृयज्ञः

अग्निहोत्रविधि पूर्ण करके तीसरा पितृयज्ञ करे, अर्थात् जीते हुए माता-पिता आदि की यथावत् सेवा करनी 'पितृयज्ञ' कहाता है ॥३॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिः

ओम् अग्नये स्वाहा ॥१॥
ओं सोमाय स्वाहा ॥२॥
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥३॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥४॥
ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥५॥
ओं कुह्वै स्वाहा ॥६॥
ओम् अनुमत्यै स्वाहा ॥७॥
ओं प्रजापतये स्वाहा॥८॥
ओं द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥९॥
ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥१०॥

इन १० दश मन्त्रों से **घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो तो क्षार और लवणान्न को छोड़के जो कुछ पाक में बना हो,** उसी की १० दश आहुति करे ।

तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलि दान करे—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥१॥ इस से पूर्व ।
ओं सानुगाय यमाय नमः ॥२॥ इस से दक्षिण ।
ओं सानुगाय वरुणाय नमः॥३॥ इस से पश्चिम ।
ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥४॥ इस से उत्तर ।
ओं मरुद्भ्यो नमः ॥५॥ इस से द्वार ।
ओं अद्भ्यो नमः ॥६॥ इस से जल ।
ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥७॥ इस से मूसल और ऊखल ।

ओं श्रियै नमः ॥८॥ इस से ईशान ।
ओं भद्रकाल्यै नमः ॥९॥ इस से नैर्ऋत्य ।
ओं ब्रह्मपतये नमः॥१०॥
ओं वास्तुपतये नमः॥११॥ इन से मध्य ।
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥१२॥
ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः॥१३॥
ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः॥४॥ इन से ऊपर ।
ओं सर्वात्मभूतये नमः॥१५॥ इस से पृष्ठ ।
ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः॥१६॥ इस से दक्षिण ।

इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना । यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आ जाए तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना । तत्पश्चात् घृतसहित लवणान्न लेके—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥

अर्थ—कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि—इन ६ छह नामों से ६ छह भाग पृथिवी में धरे और वे ६ छह भाग जिस-जिस के नाम हैं, उस-उस को देना चाहिए ॥४॥

अथातिथियज्ञः

पांचवाँ—जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपात रहित शान्त, सर्वहितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा, उन से प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना **'अतिथियज्ञ'** कहाता है, उस को नित्य किया करें। इस प्रकार पञ्चमहायज्ञों को स्त्री-पुरुष प्रतिदिन करते रहें ॥५॥

इस के पश्चात् पक्षयज्ञ अर्थात् **पौर्णमासी** और **अमावस्या** के दिन नैत्यिक अग्निहोत्र की आहुति दिये पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे **स्थालीपाक** बनाके निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष आहुति करें—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥१॥
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥२॥
ओं विष्णवे स्वाहा ॥३॥

इन ३ तीन मन्त्रों से स्थालीपाक की ३ तीन आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आज्याहुति** ४ चार देनी, परन्तु इस

में इतना भेद है कि अमावास्या के दिन—

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ इस मन्त्र के बदले—

ओम् इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा ॥

इस मन्त्र को बोलके स्थालीपाक की आहुति देवे ।

इस प्रकार पक्षयाग अर्थात् जिस के घर में **अभाग्य से अग्निहोत्र न होता हो** तो सर्वत्र पक्षयागादि में पृष्ठ १२-१४ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसामग्री, यज्ञमण्डप; पृष्ठ १८-१९ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान; पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति; और पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जलसेचन करके, पृष्ठ ४-११ में लिखे प्रमाणे **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** भी यथायोग्य करें ।

और जब-जब नवान्न आवे, तब-तब नवशस्येष्टि और संवत्सर के आरम्भ में निम्नलिखित विधि करें, अर्थात् जब-जब नवीन अन्न आवे, तब-तब शस्येष्टि करके नवीन अन्न के भोजन का आरम्भ करे ।

नवशस्येष्टि और **संवत्सरेष्टि** करना हो तो जिस दिन प्रसन्नता हो वही शुभ दिन जाने । ग्राम और शहर के बाहर किसी शुद्ध खेत में यज्ञमण्डप करके पृष्ठ ४-२४ तक लिखे प्रमाणे सब विधि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार तथा अष्टाज्याहुति ८ आठ, ये १६ सोलह आज्याहुति करके, कार्यकर्त्ता—

ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः ।
तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥१॥

ओं यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन् ।
तन्मे सर्वꣳ समृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा ॥२॥

ओं सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय इदन्न मम ॥३॥

ओं यस्याभावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम् ।
इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वाहा ॥ इदमिन्द्रपत्न्यै इदन्न मम ॥४॥

ओम् अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता । खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳसा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ॥ इदं सीतायै इदन्न मम ॥५॥

इन मन्त्रों से प्रधान होम की ५ पांच आज्याहुति करके—

ओं सीतायै स्वाहा ॥१॥
ओं प्रजायै स्वाहा ॥२॥
ओं शमायै स्वाहा ॥३॥
ओं भूत्यै स्वाहा ॥४॥

इन चार मन्त्रों से चार और पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **(यदस्य०)** मन्त्र से **स्विष्टकृत्** होमाहुति १ एक, ऐसे ५ पांच **स्थालीपाक** की आहुति देके, पश्चात् पृष्ठ २२-२३ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति**, पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति** ४ चार, ऐसे १२ बारह आज्याहुति देके, पृष्ठ २३-२४, ४-११ में लिखे प्रमाणे वामदेव्यगान, **ईश्वरोपासना**, **स्वस्तिवाचन** और **शान्तिकरण** करके यज्ञ की समाप्ति करें ॥

अथ शालाकर्मविधिं वक्ष्यामः

'शाला' उस को कहते हैं—जो मनुष्य और पश्वादि के रहने अथवा पदार्थ रखने के अर्थ गृह वा स्थानविशेष बनाते हैं। इस के दो विषय हैं-एक प्रमाण और दूसरा विधि । उस में से प्रथम प्रमाण और पश्चात् विधि लिखेंगे ।

अत्र प्रमाणानि—

उपमितां प्रतिमितामथो परिमिताम् उत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥१॥
हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।
सदो देवानामसि देवि शाले ॥२॥

अर्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई किसी प्रकार का घर बनावें तो वह (उपमिताम्) सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त कि जिस को देखके विद्वान् लोग सराहना करें। (प्रतिमिताम्) प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार कोणे और कक्षा भी सम्मुख हों । (अथो) इस के अनन्तर (परिमिताम्) वह शाला चारों ओर की परिमाण से समचौरस हो । (उत) और (शालायाः) शाला (विश्ववारायाः) अर्थात् उस घर के द्वार चारों ओर के वायु को स्वीकार करनेवाले हों । (नद्धानि) उस के बन्धन और चिनाई दृढ़ हों । हे मनुष्यो ! ऐसी शाला को जैसे हम शिल्पी लोग (विचृतामसि) अच्छे प्रकार ग्रन्थित अर्थात् बन्धनयुक्त करते हैं, वैसे तुम भी करो ॥१॥

उस घर में **एक (हविर्धानम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान, (अग्निशालम्) अग्निहोत्र का स्थान, (पत्नीनाम्) स्त्रियों के (सदनम्)** रहने का (सदः) स्थान, और **(देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के** रहने-बैठने, मेल-मिलाप करने और सभा का (सदः) स्थान तथा **स्नान, भोजन, ध्यान आदि** का भी पृथक्-पृथक् एक-एक घर बनावे । इस प्रकार की (देवि) दिव्य कमनीय (शाले) बनाई हुई शाला (असि) सुखदायक होती है ॥२॥

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् । यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः। तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥३॥

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥४॥

अर्थः—उस शाला में (अन्तरा) भिन्न-भिन्न (पृथिवीम्) शुद्ध भूमि अर्थात् चारों ओर स्थान शुद्ध हों। (च) और (द्याम्) जिस में सूर्य का प्रतिभास आवे, वैसी प्रकाशस्वरूप भूमि के समान दृढ़ शाला बनावे। (च) और (यत्) जो (व्यचः) उस की व्याप्ति अर्थात् विस्तार हे स्त्रि! (ते) तेरे लिये है, (तेन) उसी से युक्त (इमाम्) इस (शालाम्) घर को बनाता हूं, तू इस में निवास कर, और मैं भी निवास के लिये इस को (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं। (यत्) जो उस के बीच में (अन्तरिक्षम्) पुष्कल अवकाश और (रजसः) उस घर का (विमानम्) विशेष मान-परिमाणयुक्त **लम्बी ऊंची छत,** और (उदरम्) भीतर का प्रसार विस्तारयुक्त होवे, (तत्) उस को (शेवधिभ्यः) सुख के आधाररूप अनेक कक्षाओं से सुशोभित (अहम्) मैं (कृण्वे) करता हूं। (तेन) उस पूर्वोक्त लक्षणमात्र से युक्त (शालाम्) शाला को (तस्मै) उस गृहाश्रम के सब व्यवहारों के लिये (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥३॥

जो (शाले) शाला (ऊर्जस्वती) बहुत बलारोग्य पराक्रम को बढ़ानेवाली, और धन-धान्य से पूरित सम्बन्धवाली, (पयस्वती) जल दूध रसादि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (मिता) परिमाणयुक्त (निमिता) निर्मित की हुई (विश्वान्नम्) सम्पूर्ण अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुई (प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करनेहारों को रोगादि से (मा हिंसीः) पीड़ित न करे, वैसा घर बनाना चाहिये ॥४॥

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥५॥

अर्थः—(अमृतौ) स्वरूप से नाशरहित (इन्द्राग्नी) वायु और पावक, (कविभिः) उत्तम विद्वान् शिल्पियों ने (मिताम्) प्रमाणयुक्त अर्थात् माप में ठीक जैसी चाहिये वैसी (निमिताम्) बनाई हुई (शालाम्) शाला को, और (ब्रह्मणा) चारों वेदों के जाननेहारे विद्वान् ने सब ऋतुओं में सुख देनेहारी (निमिताम्) बनाई (शालाम्) शाला को प्राप्त होकर रहनेवालों को (रक्षताम्) रक्षा करें। अर्थात् चारों ओर का शुद्ध वायु आके अशुद्ध वायु को निकालता रहे, और जिसमें सुगन्ध्यादि घृत का होम किया जाय, वह अग्नि दुर्गन्ध को निकाल सुगन्ध को स्थापन करे। वह (सोम्यम्) ऐश्वर्य आरोग्य सर्वदा सुखदायक (सदः) रहने के लिये उत्तम घर है। उसी को निवास के लिये ग्रहण करे ॥५॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवाशये ॥६॥

अर्थ—हे मनुष्यो ! (या) जो (द्विपक्षा) दो पक्ष अर्थात् मध्य में एक और पूर्व पश्चिम में एक-एक शालायुक्त घर, अथवा (चतुष्पक्षा) जिस के पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर में एक-एक शाला, और इन के मध्य में पांचवीं बड़ी शाला, वा (षट्पक्षा) एक बीच में बड़ी शाला और दो-दो पूर्व-पश्चिम तथा एक-एक उत्तर-दक्षिण में शाला हों, (या) जो ऐसी शाला (निमीयते) बनाई जाती है, वह उत्तम होती है । और इस से भी जो (अष्टापक्षाम्) चारों ओर दो-दो शाला और उन के बीच में एक नवमी शाला हो, अथवा (दशपक्षाम्) जिस के मध्य में दो शाला और उन के चारों दिशाओं में दो-दो शाला हों, उस (मानस्य) परिमाण के योग से बनाई हुई (शालाम्) शाला को जैसे (पत्नीम्) पत्नी को प्राप्त होके (अग्निः) अग्निमय आर्त्तव और वीर्य (गर्भ इव) गर्भरूप होके (आशये) गर्भाशय में ठहरता है, वैसे सब शालाओं के द्वार दो-दो हाथ पर सूधे बराबर हों ॥

और जिस की चारों ओर की शालाओं का परिमाण **तीन-तीन गज** और मध्य की शालाओं का **छह-छह गज से परिमाण न्यून न हो और चार-चार गज चारों दिशाओं की,** और **आठ-आठ गज मध्य की शालाओं** का परिमाण हो, अथवा मध्य की शालाओं का **दश-दश गज** अर्थात् **बीस-बीस हाथ से विस्तार अधिक न हो,** बनाकर गृहस्थों को रहना चाहिए। यदि वह सभा का स्थान हो, तो बाहर की ओर द्वारों में चारों ओर कपाट और मध्य में गोल-गोल स्तम्भे बनाकर चारों ओर खुला बनाना चाहिए कि जिस के कपाट खोलने से चारों ओर का वायु उस में आवे। और सब घरों के चारों ओर वायु आने के लिए अवकाश तथा वृक्ष फल और पुष्करणी कुण्ड भी होने चाहियें, वैसे घरों में सब लोग रहें ॥६॥

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।
अग्निर्ह्य१न्तरापश्च ऋतस्य प्रथमा द्वाः ॥७॥

अर्थः—जो (शाले) शालागृह (प्रतीचीनः) पूर्वाभिमुख तथा जो गृह (प्रतीचीम्) पश्चिम द्वारयुक्त, (अहिंसतीम्) हिंसादि दोष रहित, अर्थात् पश्चिम द्वार के सम्मुख पूर्व द्वार, जिस में (हि) निश्चय कर (अन्तः) बीच में (अग्निः) अग्नि का घर (च) और (आपः) जल का स्थान (ऋतस्य) और सत्य के ध्यान के लिये एक स्थान (प्रथमा) प्रथम (द्वाः) द्वार है, मैं (त्वा) उस शाला को (प्रैमि) प्रकर्षता से प्राप्त होता हूं ॥७॥

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि ॥८॥

—अथर्व० कां० ९ । अ० २। वर्ग ३ ॥

अर्थः—हे शिल्पि लोगो ! जैसे (नः) हमारी (शाले) शाला अर्थात् गृह (पाशम्) बन्धन को (मा प्रतिमुचः) कभी न छोड़े, जिस में (गुरुर्भारः) बड़ा भार (लघुर्भव) छोटा होवे, वैसी बनाओ। (त्वा) उस शाला को (यत्र कामम्) जहां जैसी कामना हो वहां वैसी हम लोग (वधूमिव) स्त्री के समान (भरामसि) स्वीकार करते हैं, वैसे तुम भी ग्रहण करो ॥८॥

इस प्रकार प्रमाणों के अनुसार जब घर बन चुके, तब प्रवेश करते समय क्या-क्या विधि करना, सो नीचे लिखे प्रमाणे जानो—

अथ विधिः—जब घर बन चुके, तब उस की शुद्धि अच्छे प्रकार करा, चारों दिशाओं के बाहरले द्वारों में ४ चार वेदी, और एक वेदी घर के मध्य बनावे, अथवा तांबे का वेदी के समान कुण्ड बनवा लेवे कि जिस से सब ठिकाने एक कुण्ड ही में काम हो जावे सब प्रकार की सामग्री अर्थात् पृष्ठ १३-१४ में लिखे प्रमाणे समिधा, घृत, चावल, मिष्ट, सुगन्ध, पुष्टिकारक द्रव्यों को लेके शोधन कर प्रथम दिन रख लेवे। जिस दिन गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे, उसी शुभ दिन में गृहप्रतिष्ठा करे।

वहां ऋत्विज् होता अध्वर्यु और ब्रह्मा का वरण करे, जो कि धर्मात्मा विद्वान् हों। वे सब वेदी से पश्चिम दिशा में बैठें। उन में से होता का आसन और उस पर वह पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु का उत्तर में उस पर दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व दिशा में आसन उस पर वह पश्चिमाभिमुख और ब्रह्मा का दक्षिण दिशा में उत्तमासन बिछा कर उत्तराभिमुख। इस प्रकार चारों आसनों पर चारों पुरुषों को बैठावे, और गृहपति सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठा करे। ऐसे ही घर के मध्य वेदी के चारों ओर दूसरे आसन बिछा रक्खे।

पश्चात् निष्क्रम्यद्वार, जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होवे, अर्थात् जो मुख्य द्वार हो, उसी द्वार के समीप ब्रह्मा सहित बाहर ठहर कर—

ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा ॥

इस से एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ जिस में ध्वजा लगाई हो, खड़ा करे और घर के ऊपर चारों कोणों पर ४ चार ध्वजा खड़ी करे तथा कार्यकर्त्ता गृहपति स्तम्भ खड़ा करके उस के मूल में जल से सेचन करे, जिससे वह दृढ़ रहे।

पुनः द्वार के सामने बाहर जाकर नीचे लिखे चार मन्त्रों से जलसेचन करे—

ओम् इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्द्धारां प्रतरणीं वसूनाम्।
इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुच्छ्रयमाणा ॥१॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिटकावे ।

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ।
आ त्वा शिशुराक्रन्दन् त्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः ॥२॥

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार ।

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह । आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरुप । क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम् ॥३॥

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार ।

अश्वावद् गोमदूर्जस्वत् पर्णं वनस्पतेरिव ।
अभि नः पूर्यताꣳ रयिरिदमनुश्रेयो वसानः ॥४॥

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिटकावे । तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदली-स्तम्भ वा कदली के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिये लगाकर, पश्चात् गृहपति—

हे ब्रह्मन् ! प्रविशामीति । ऐसा वाक्य बोले । और ब्रह्मा—

वरं भवान् प्रविशतु ॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे । और ब्रह्मा की अनुमति से—

ओम् ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये ॥

इस वाक्य को बोलके भीतर प्रवेश करे और जो घृत गरम कर, छान, सुगन्ध मिलाकर रक्खा हो, उस को पात्र में लेके जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे, उसी द्वार से प्रवेश करके, पृष्ठ १८-२० में लिखे प्रमाणे आचमन करके **अग्न्याधान, समिदाधान, जलप्रोक्षण** पृष्ठ २०-२१ में लिखे प्रमाणे घृत की आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, नवमी स्विष्टकृत् आज्याहुति एक, अर्थात् दिशाओं की द्वारस्थ वेदियों में **अग्न्याधान से लेके स्विष्टकृत् आहुतिपर्यन्त विधि करके,** पश्चात् पूर्वदिशा द्वारस्थ कुण्ड में—

ओं प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन दो मन्त्रों से **पूर्व** द्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देवे। वैसे ही—

ओं दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन दो मन्त्रों से **दक्षिण** द्वारस्थ वेदी में एक-एक मन्त्र करके दो आज्याहुति और-

ओं प्रतीच्यां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन दो मन्त्रों से दो आज्याहुति **पश्चिम**दिशाद्वारस्थ कुण्ड में देवे।

ओम् उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से **उत्तर दिशास्थ वेदी** में दो आज्याहुति देवे । पुनः मध्यशालास्थ वेदी के समीप जाके स्व-स्व दिशा में बैठके-

ओं ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से **मध्य** वेदी में दो आज्याहुति ।

ओम् ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से भी दो आहुति **मध्यवेदी** में । और-

ओं दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा ॥१॥

ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा ॥२॥

इन से भी दो आज्याहुति मध्यस्थ वेदी में देके, पुनः पूर्व दिशास्थ द्वारस्थ वेदी में अग्नि को प्रज्वलित करके वेदी के दक्षिण भाग में ब्रह्मासन तथा होता आदि के पूर्वोक्त प्रकार आसन बिछवा, उसी वेदी के **उत्तर भाग** में एक **कलश स्थापन** कर, पृष्ठ १३ में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बनाके, पृथक् निष्क्रम्यद्वार के समीप जा ठहर कर ब्रह्मादिसहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके ब्रह्मादि को दक्षिणादि आसन पर बैठा, स्वयं पूर्वाभिमुख बैठके संस्कृत घी अर्थात् जो गरम कर छान, जिस में कस्तूरी आदि सुगन्ध मिलाया हो, पात्र में लेके **सब के सामने एक-एक पात्र भरके रक्खे** । और चमसा में लेके-

ओं वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा ॥१॥
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति तन्नो जुषस्व स्वाहा ॥२

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या ।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा ॥३॥

—ऋ० मं० ७। सू० ५४॥

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् ।
सखा सुशेव एधि नः स्वाहा ॥४॥ —ऋ० मं० ७। सू० ५५। मं० १॥

इन ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देके, जो स्थालीपाक अर्थात् भात बनाया हो, उस को दूसरे कांसे के पात्र में लेके, उस पर यथायोग्य घृत सेचन करके अपने-अपने सामने रक्खे और पृथक्-पृथक् थोड़ा-थोड़ा लेकर—

ओम् अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वाँश्च देवानुपह्वये ।
सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥१॥
सर्पदेवजनान्त्सर्वान् हिमवन्तꣳ सुदर्शनम् ।
वसूँश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥२॥
पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यन्दिना सह ।
प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम् ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥३॥
ओं कर्तारञ्च विकर्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥४
धातारं च विधातारं निधीनां च पतिꣳसह ।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा ॥५॥
स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती ।
सर्वाश्च देवताश्च स्वाहा ॥६॥

स्थालीपाक अर्थात् घृतयुक्त भात की इन छह मन्त्रों से छह आहुति देकर कांस्यपात्र में उदुम्बर=**गूलर, पलाश के पत्ते, शाड्वल=तृणविशेष, गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव** को लेके उन सब वस्तुओं को मिलाकर—

ओं श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम् ॥१॥
इस मन्त्र से **पूर्व द्वार** ।
यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपयेताम् ॥२॥
इस से **दक्षिण द्वार** ।
अन्नञ्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम् ॥३॥
इस से **पश्चिम द्वार** ।

ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम् ॥४॥

इस से **उत्तर द्वार** के समीप उन को **बखेरे, और जलप्रोक्षण** भी करे।

केता च मा सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम् ॥१॥

इस से पूर्व दिशा में **परमात्मा का उपस्थान** करके दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम् ॥२॥

इस प्रकार जगदीश का उपस्थान करके पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभिमुख होके—

दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम् ॥३॥

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके उत्तर दिशा में उत्तर द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रहके—

अस्वप्नश्च माऽनवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेताम् ॥४॥

धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीसूर्यामहोरात्रे द्वारफलके । इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह । यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणः सखा यः साधुसंमतस्तां त्वा शाले अरिष्टवीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः ॥५॥

इस प्रकार उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके, सुपात्र वेदवित् धार्मिक होता आदि सपत्नीक ब्राह्मण तथा इष्ट मित्र और सम्बन्धियों को उत्तम भोजन कराके, यथायोग्य सत्कार करके दक्षिणा दे, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें । और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को

'सर्वे भवन्तोऽत्राऽऽनन्दिताः सदा भूयासुः ॥'

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को जावें ।

इसी प्रकार **आराम आदि की भी प्रतिष्ठा करें** । इस में इतना

ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे, उसी ओर होम करे कि जिस का सुगन्ध वृक्ष आदि को सुगन्धित करे । यदि उस में घर बना हो तो शाला के समान उस की भी प्रतिष्ठा करे ॥

॥ इति शालादिसंस्कारविधिः ॥

इस प्रकार गृहादि की रचना करके गृहाश्रम में जो-जो अपने अपने वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म हैं, उन-उन को यथावत् करें ।

अथ ब्राह्मणस्वरूपलक्षणम्

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥१॥ —मनु० ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥२॥ —गीता ॥

अर्थ—१ एक—निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें । २ दो—पूर्ण विद्या पढ़ें । ३ तीन—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें । ४ चौथा—यज्ञ करावें । ५ पांच—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें । ६ छठा—न्याय से धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान लेवें भी ।

इन में से ३ तीन कर्म—पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना धर्म* में और तीन कर्म—पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका हैं । परन्तु—

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ॥ —मनु०

जो दान लेना है वह नीच कर्म है, किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है ॥१॥

(शमः) मन को अधर्म में न जाने दे, किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे । (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे, दूर रखके धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे । (तपः) ब्रह्मचर्य विद्या योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति, क्षुधा-तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना । (शौचम्) **राग, द्वेष, मोहादि से मन**

* धर्म नाम **न्यायाचरण । न्याय नाम पक्षपात छोड़के वर्त्तना। पक्षपात छोड़ना नाम सर्वदा अहिंसादि निर्वैरता सत्यभाषणादि में स्थिर रह कर, हिंसा-द्वेषादि और मिथ्याभाषणादि से सदा पृथक् रहना,** सब मनुष्यों का यही एक धर्म है । किन्तु जो-जो धर्म के लक्षण वर्ण-कर्मों में पृथक्-पृथक् आते हैं, इसी से चार वर्ण पृथक्-पृथक् गिने जाते हैं।

और आत्मा को तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना । (क्षान्तिः) क्षमा, अर्थात् कोई निन्दा-स्तुति आदि से सतावें तो भी उन पर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना । (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्र भाव रखना । (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़के, विचार कर उन के शब्दार्थ-सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना । (विज्ञानम्) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना, कराना । (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना । ये **नव कर्म और गुण धर्म में समझना** । सब से उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करना । ये गुण, कर्म, जिन व्यक्तियों में हों, वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें । विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण, कर्म, स्वभावों को मिला ही के करें । मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे ।।२।।

अथ क्षत्रियस्वरूपलक्षणम्

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।।१।। —मनु० ।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ।।२।। —गीता ।।

अर्थ—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादिशास्त्रों को यथावत् पढ़ना । (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना, यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में, और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है । (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेन्द्रिय रहना । लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना ।।१।।

(शौर्यम्) शस्त्र-संग्राम मृत्यु और शस्त्र प्रहारादि से न डरना । (तेजः) प्रगल्भता, उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना । (धृतिः) चाहे कितनी ही आपत्-विपत् क्लेश-दुःख प्राप्त

हो, तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना, (दाक्ष्यम्) संग्राम वाग्युद्ध दूतत्व न्याय विचार आदि सब में अतिचतुर बुद्धिमान् होना, (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबराकर शत्रु के वश में कभी न होना, (दानम्) इस का अर्थ प्रथम श्लोक में आ गया, **(ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सब के ऊपर दया करके पितृवत् वर्तमान, पक्षपात छोड़कर धर्माऽधर्म करनेवालों को यथायोग्य सुखदुःखरूप फल देता, और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सब का अन्तर्यामी होकर सब के अच्छे-बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्तकर गुप्त दूत आदि से अपने को सर्व प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे-बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना** । रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना। और सब प्रकार से **अपने शरीर को रोगरहित बलिष्ठ दृढ़ तेजस्वी दीर्घायु रखके आत्मा** को न्याय धर्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुण, कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो, वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे ।

इन का भी इन्हीं गुण-कर्मों के मेल से विवाह करना । और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे, वैसे ही राजा पुरुषों, राणी स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करे । जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें ।।२।।

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम्

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ —मनु० ॥

अर्थ—(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) अन्नादि का दान देना, ये तीन धर्म के लक्षण हैं **और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उन के दुग्धादि का बेचना, (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना, (कुसीदम्) ब्याज का लेना***,

* सवा रुपये सैकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आ जाये उससे आगे कौड़ी न लेवे न देवे । जितना न्यून ब्याज लेवेगा, उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे ।

(कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना–बोना आदि व्यवहार का जानना, ये चार कर्म वैश्य की जीविका। ये गुण–कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह वैश्य–वैश्या और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये ॥

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम्

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषाम् अनसूयया ॥ –मनु०॥

अर्थ–(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिस को पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिये (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों, वह शूद्र और शूद्रा है। इन्हीं की परीक्षा से इन का विवाह और इन को अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिए ॥

इन गुणकर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल देश और मनुष्यसमुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिन का जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण, कर्म, स्वभाव हों तो अतिविशेष है।

अब सब ब्राह्मणादि वर्णवाले मनुष्य लोग अपने–अपने कर्मों में निम्नलिखित रीति से बर्तें–

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥१॥
नेहेतार्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥२॥

अर्थः–ब्राह्मणादि द्विज वेदोक्त अपने कर्म को आलस्य छोड़के नित्य किया करें। उस को अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं ॥१॥

गृहस्थ कभी किसी दुष्ट के प्रसङ्ग से द्रव्यसञ्चय न करे, न विरुद्ध कर्म से, न विद्यमान पदार्थ होते हुए उन को गुप्त रखके, दूसरे से छल करके और चाहे कितना ही दुःख पड़े तदपि अधर्म से द्रव्य–सञ्चय कभी न करे ॥२॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्तयेत् ॥३॥

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाऽध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ।।४।।

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फंसे और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति अर्थात् प्रसंग को मन से अच्छे प्रकार दूर करता रहे ।।३।।

जो स्वाध्याय और धर्म-विरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं, उन सब को छोड़ देवे । जिस-किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही गृहस्थ को कृतकृत्य होना है ।।४।।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ।।५।।
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ।।६।।
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कशैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ।।७।।
नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः प्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ।।८।।
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।९।।

अर्थ—हे स्त्री पुरुषो ! तुम जो धर्म धन और बुद्ध्यादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ानेहारे हितकारी शास्त्र हैं उन को और वेद के भागों की विद्याओं को नित्य देखा करो ।।५।।

मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्र का विचार कर उस के यथार्थ भाव को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे अधिक-अधिक जानता जाता है और इस की प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है ।।६।।

सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है कि जो पतित दुष्ट कर्म करनेहारे हों न उन के, न चाण्डाल, न कञ्जर, न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी और न नीच निश्चयवाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें ।।७।।

गृहस्थ लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी होके पश्चात् दरिद्र हो जायें, उस से अपने आत्मा का अवमान न करें कि 'हाय हम निर्धनी हो गये' इत्यादि विलाप भी न करें, किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें ।।८।।

मनुष्य सदैव सत्य बोलें, और दूसरे को कल्याणकारक उपदेश करें। काणे को काणा और मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उन के सम्मुख

कभी न बोलें और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उस को भी न बोलें, यह सनातन धर्म है ॥९॥

अभिवादयेद् वृद्धाँश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥१०॥
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥११॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१२॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥१३॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥१४॥

अर्थ—सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को 'नमस्ते' अर्थात् उन का मान्य किया करे । जब वे अपने समीप आवें, तब उठकर मान्यपूर्वक ले अपने आसन पर बैठावे । और हाथ जोड़के आप समीप बैठे पूछे, वे उत्तर देवें । और जब जाने लगें, तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर 'नमस्ते' कर विदा किया करे । और वृद्ध लोग हर वार निकम्मे जहां-तहां न जाया करें ॥१०॥

गृहस्थ सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए अपने कर्मों में निबद्ध, और धर्म का मूल सदाचार, अर्थात् सत्य और सत्पुरुष आप्त धर्मात्माओं का जो आचरण है, उस का सेवन सदा किया करें ॥११॥

धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है और धर्माचार बुरे अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है ॥१२॥

और जो दुष्टाचारी पुरुष होता है, वह सर्वत्र निन्दित दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा हो जाता है ॥१३॥

जो सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त, सत्य में श्रद्धा और निन्दा आदि दोषरहित होता है, वह सुख से सौ वर्ष पर्यन्त जीता है ॥१४॥

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद् यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत् सेवेत यत्नतः ॥१५॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१६॥
अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥१७॥

अर्थ—मनुष्य जो-जो पराधीन कर्म हो, उस-उस को प्रयत्न से सदा छोड़े और जो-जो स्वाधीन कर्म हो, उस-उस का सेवन प्रयत्न से किया करे ।।१५।।

क्योंकि जितना परवश होना है वह सब दुःख और जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है । यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानो ।।१६।।

जो अधार्मिक मनुष्य है और जिस का अधर्म से सञ्चित किया हुआ धन है और जो सदा हिंसा में अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है, वह इस लोक और परलोक अर्थात् परजन्म में सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ।।१७।।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१८॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेवन्तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥१९॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा ।
शिष्याँश्च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥२०॥

अर्थ—मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता, वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता । किन्तु धीरे-धीरे अधर्म कर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है । पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है ।।१८।।

यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों, और पुत्रों के समय में न हो तो नातियों के समय में अवश्य प्राप्त होता है । किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ।।१९।।

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि सत्य धर्म और आर्य अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर बाहर की पवित्रता में सदा रमण करें। अपनी वाणी, बाहू, उदर को नियम और सत्यधर्म के साथ वर्त्तमान रखके शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें ।।२०।।

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥२१॥
धर्मं शनैस्सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥२२॥
उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत् सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमाँस्त्यजेत् ॥२३॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२४॥
स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२५॥

—मनु० ॥

अर्थ—जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों, उन को सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे । और जो धर्माभास अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं, और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करनेवाले कर्म हैं, उन से भी दूर रहे ॥२१॥

जैसे दीमक धीरे-धीरे बड़े भारी घर को बना लेती हैं, वैसे मनुष्य परजन्म के सहाय के लिये सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का सञ्चय धीरे-धीरे किया करे ॥२२॥

जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे, वह नीच-नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़कर नित्य अच्छे-अच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥२३॥

जिस वाणी में सब व्यवहार निश्चित, वाणी ही जिन का मूल और जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, **जो मनुष्य उस वाणी को चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है ।** इसलिये मिथ्याभाषण को छोड़के सदा सत्यभाषण ही किया करे ॥२४॥

मनुष्यों को चाहिये कि धर्म से वेदादि शास्त्रों का पठन-पाठन, गायत्री-प्रणवादि का अर्थविचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्मोपासना, ज्ञान-विद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पञ्चमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन, सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करें ॥२५॥

अथ सभास्वरूपलक्षणम्—जो-जो विशेष बड़े-बड़े काम हों

जैसा कि राज्य, वे सब सभा से निश्चय करके किये जावें। इसमें प्रमाण—

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥१॥

—अथर्व० कां० १५ । सू० ९ । मं० २॥

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥२॥

—अथर्व० कां० १९ । सू० ५५ । मं० ६॥

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि॥३॥

—ऋ० मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६॥

अर्थ—(तम्) जो कि संसार में धर्म के साथ राज्यपालनादि किया जाता है, उस व्यवहार को सभा और संग्राम तथा सेना सब प्रकार सञ्चित करे ॥१॥

हे सभ्य सभा के योग्य सभापते राजन्! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा और उन्नति किया कर। (ये च) और जो (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक आप्त (सभासदः) सभासद् विद्वान् लोग हैं, वे भी सभा की योजना रक्षा और उस से सब की उन्नति किया करें ॥२॥

जो (राजाना) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं, वे (विदथे) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में (त्रीणि) राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा, अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिये ये तीन प्रकार की (सदांसि) सभा नियत करें। इन्हीं से संसार की सब प्रकार उन्नति करें ॥३॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥१॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥२॥

अर्थः—हे गृहस्थ लोगो! जो धर्मयुक्त व्यवहार मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों, यदि उन में शंका होवे तो तुम जिस को शिष्ट आप्त विद्वान् कहें, उसी को शङ्कारहित कर्तव्य धर्म मानो ॥१॥

शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते, किन्तु जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों, जो श्रुति प्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ धार्मिक परोपकारी हों, वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥२॥

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥३॥

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा ॥४॥
ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥५॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥६॥

अर्थः—वैसे शिष्ट न्यून से न्यून १० दश पुरुषों की सभा होवे, अथवा बड़े विद्वान् तीनों की भी सभा हो सकती है । जो सभा से धर्म-कर्म निश्चित हों, उन का भी आचरण सब लोग करें ॥३॥

उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—३ तीन वेदों के विद्वान्, चौथा हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, पांचवां तर्की=न्यायशास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जाननेहारा, सातवां धर्मशास्त्रवित्, आठवां ब्रह्मचारी, नववां गृहस्थ और दशवां वानप्रस्थ—इन महात्माओं की सभा होवे ॥४॥

तथा ऋग्वेदवित् यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिये होनी चाहिए और जितने सभा में अधिक पुरुष हों, उतनी ही उत्तमता है ॥५॥

द्विजों में उत्तम अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अकेला भी जिस धर्म-व्यवहार के करने का निश्चय करे, वही कर्तव्य परम धर्म समझना, किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों लाखों और क्रोडह पुरुषों का कहा हुआ धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिए किन्तु धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परमविद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सब को मानने योग्य है।।६॥

यदि सभा में मतभेद हो तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी । और दोनों पक्षवाले बराबर उत्तम हों तो वहां संन्यासियों की सम्मति लेनी। जिधर पक्षपातरहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे, वही उत्तम समझनी चाहिए ।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मस्सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥७॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥८॥ —मनु० ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन और उस से विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्न से किया करें ॥७॥

धर्म, न्याय नाम पक्षपात छोड़कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना । इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं (अहिंसा) किसी से वैर-बुद्धि करके उस के अनिष्ट करने में कभी न वर्तना। (धृतिः) सुख-दुःख हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना । (क्षमा) निन्दा-स्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना । (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना । (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना (शौचम्) राग-द्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना। (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटाके धर्म ही में चलाना । (धीः) वेदादि सत्यविद्या ब्रह्मचर्य सत्सङ्ग करने और कुसङ्ग दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना । (विद्या) जिससे भूमि से लेके परमेश्वरपर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना । (सत्यम्) सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना । (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है, इस का ग्रहण और अन्याय पक्षपात-सहित आचरण अधर्म, जो कि हिंसा=वैर-बुद्धि, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसङ्ग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या जो कि अधर्माचरण अज्ञान है उस में फंसना, असत्य मानना असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फंसकर अधर्मी दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह अधर्म के लक्षण हैं । इन से सदा दूर रहना चाहिए ॥८॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा,
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति,
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥९॥

—महाभारते० ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्विषी ॥१०॥
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥११॥
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥१२॥

अर्थ—वह सभा नहीं है, जिस में वृद्ध पुरुष न होवें । वे वृद्ध नहीं हैं, जो धर्म ही की बात नहीं बोलते । वह धर्म नहीं है, जिस में सत्य नहीं और न वह सत्य है जो कि छल से युक्त हो ।।९।।

मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे । यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले । यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे, अथवा सत्य के विरुद्ध बोले, वह मनुष्य अतिपापी है ।।१०।।

अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे, उस के घाव को यदि सभासद् न पूर देवें, तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं ।।११।।

जिस को सत्पुरुष राग-द्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो ।।१२।।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।१३।।
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ।।१४।।

अर्थः—जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उस की धर्म भी रक्षा करता है । इसलिए मारा हुआ धर्म कभी हम को न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिए ।।१३।।

जो सुख की वृष्टि करनेहारा सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उस का जो लोप करता है, उस को विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच समझते हैं ।।१४।।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।।१५

—महाभारते ।।

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।।१६।। —मनु० ।।
निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीस्समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।१७।। —भर्तृहरिः ।।

अर्थ—मनुष्यों को योग्य है कि काम से, अर्थात् झूठ से कामना सिद्ध

होने के कारण से, वा निन्दा, स्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग कभी न करें, और न लोभ से। चाहे झूठ अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो, तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें। चाहे भोजन-छादन जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों, परन्तु जीविका के लिये भी धर्म को कभी न छोड़ें। क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं तथा सुख-दुःख दोनों अनित्य हैं। अनित्य के लिये नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है। इस धर्म का हेतु कि जिस शरीर आदि से धर्म होता है, वह भी अनित्य है। धन्य वे मनुष्य हैं, जो अनित्य शरीर और सुख-दुःखादि के व्यवहार में वर्त्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते ॥१५॥

जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है, उस सभा में सब सभासद् मरे से ही हैं ॥१६॥

सब मनुष्यों को यह निश्चय जानना चाहिए कि चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्त्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे अथवा नष्ट हो जावे, आज ही मरण होवे अथवा वर्षान्तर में मृत्यु प्राप्त होवे, तथापि जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते, वे ही धीर पुरुष धन्य हैं ॥१७॥

सं ग॑च्छध्वं॒ सं व॑दध्वं॒ सं वो॒ मनां॑सि जानताम्।
दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ सं जाना॒ना उ॒पास॑ते ॥१॥

—ऋ० म० १० । सू० १९१ । मं० २॥

दृ॒ष्ट्वा रू॒पे व्याक॑रोत् सत्यानृ॒ते प्र॒जाप॑तिः ।
अश्र॑द्धा॒मनृ॒तेऽद॑धाच्छ्र॒द्धाᳬं स॒त्ये प्र॒जाप॑तिः ॥२॥

—यजु० अ० १९। मं० ७७॥

स॒ह ना॑ववतु स॒ह नौ॑ भुनक्तु स॒ह वी॒र्यं॑ करवावहै ।
ते॒ज॒स्वि ना॒वधी॑तमस्तु॒ मा वि॑द्विषा॒वहै॑ ॥
ओं शा॒न्ति॒श्शा॒न्ति॒श्शान्ति॑ः ॥३॥

—तै० आर० अष्टमप्रपाठकः । प्रथमानुवाकः ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! तुम को मैं ईश्वर आज्ञा देता हूं कि (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम अधीतविद्यायोगाभ्यासी, (सं जानानाः) सम्यक् जाननेवाले, (देवाः) विद्वान् लोग मिलके (भागम्) सत्य असत्य का निर्णय करके, असत्य को छोड़, सत्य की (उपासते) उपासना करते हैं, वैसे (सं जानताम्) आत्मा से धर्माऽधर्म, प्रियाऽप्रिय को सम्यक्

जाननेहारे (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन एक-दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म में सम्मत होवें। और तुम उसी धर्म को (सं गच्छध्वम्) सम्यक् मिलके प्राप्त होओ, जिस में तुम्हारी एक सम्मति होती है और विरुद्धवाद अधर्म को छोड़के (संवदध्वम्) सम्यक् संवाद प्रश्नोत्तर प्रीति से करके एक-दूसरे की उन्नति किया करो ।।१।।

(प्रजापतिः) सकल सृष्टि की उत्पत्ति और पालन करनेहारा सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, न्यायकारी अद्वितीय स्वामी परमात्मा (सत्यानृते) सत्य और अनृत (रूपे) भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले धर्म-अधर्म को (दृष्ट्वा) अपनी सर्वज्ञता से यथावत् देखके (व्याकरोत्) भिन्न-भिन्न निश्चित करता है । (अनृते) मिथ्याभाषणादि अधर्म में (अश्रद्धाम्) अप्रीति को और (प्रजापतिः) वही परमात्मा (सत्ये) सत्यभाषणादिलक्षणयुक्त न्याय पक्षपातरहित धर्म में तुम्हारी (श्रद्धाम्) प्रीति को (अदधात्) धारण कराता है, वैसा ही तुम करो ।।२।।

हम स्त्री-पुरुष सेवक-स्वामी मित्र-मित्र पिता-पुत्रादि (सह) मिलके (नौ) हम दोनों प्रीति से (अवतु) एक-दूसरे की रक्षा किया करें और (सह) प्रीति से मिलके एक-दूसरे के (वीर्यम्) पराक्रम की बढ़ती (करवावहै) सदा किया करें । (नौ) हमारा (अधीतम्) पढ़ा-पढ़ाया (तेजस्वि) अतिप्रकाशमान (अस्तु) होवे और हम एक-दूसरे से (मा विद्विषावहै) कभी विद्वेष विरोध न करें, किन्तु सदा मित्र-भाव और एक-दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्तकर सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें । जिस परमात्मा का यह 'ओम्' नाम है, उस की कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से हमारे **शरीर मन और आत्मा का त्रिविध दुःख, जो कि अपने और दूसरे से होता है,** नष्ट हो जावे और हम लोग प्रीति से एक-दूसरे के साथ वर्तके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल होके सदैव स्वयम् आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खें ।।३।।

इति गृहाश्रमसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[१४]

अथ वानप्रस्थसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'वानप्रस्थसंस्कार' उस को कहते हैं, जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे, और पुत्र का भी एक सन्तान हो जाय। अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम अर्थात् वन में जाकर निम्नलिखित सब बातें करे।

अत्र प्रमाणानि—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥१॥ —शतपथब्राह्मणे ॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥२॥

—यजु० अ० १९। मं० ३०॥

अर्थः—मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति करके गृहस्थ होवें। गृहस्थ होके वनी अर्थात् वानप्रस्थ होवें और वानप्रस्थ होके संन्यास ग्रहण करें ॥१॥

जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत, अर्थात् नियम धारण करता है, तब उस (व्रतेन) व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है। (दीक्षया) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम-पालन से (दक्षिणाम्) सत्कारपूर्वक धनादि को (आप्नोति) प्राप्त होता है। (दक्षिणा) उस सत्कार से (श्रद्धाम्) सत्य-धारण में प्रीति को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (श्रद्धया) सत्य धार्मिक जनों में प्रीति से (सत्यम्) सत्य विज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को (आप्यते) प्राप्त होता है। **इसलिए श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये** ॥२॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽ अहम् ॥३॥

—यजु० अ० २०। मं० २४॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥४॥

—अथर्व का० ९। सू० ५। मं० १॥

अर्थः—हे (व्रतपते अग्ने) नियमपालकेश्वर ! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होके (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उस की सामग्री, (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उस के उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूं। इसीलिए अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण करता हूं, वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूं और वैसे ही (त्वा) तुझ को अपने आत्मा से धारण करता, और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूं ॥३॥

हे गृहस्थ ! (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरम्भ कर । (आनय) अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला । (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो । (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े-बड़े (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तरके अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर-अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःख-रहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) आक्रमण अर्थात् रीतिपूर्वक आरूढ़ हो ॥४॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥५॥

—अथर्व० का० १९। सू० ४१ । मं० १॥

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्ट यत्तपः ।
शिवा नः सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥६॥

—अथर्व० का० १९ । सू० ४०। मं० ३॥

अर्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त होने वाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके (तपः) प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को (उप निषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं, वैसे इस (भद्रम्) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्तः) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रम को करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त होके (जातम्) प्रसिद्ध प्राप्त हुए (राष्ट्रम्) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और (अस्मै) न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं, (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आप को (उप सं नमन्तु) समीप प्राप्त होके नम्र होवें ॥५॥

सम्बन्धी जन (नः) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की (मेधाम्) प्रज्ञा को (मा हिंसिष्ट) नष्ट मत करे । (नः) हमारी (दीक्षाम्) दीक्षा को (मा)

मत । और (नः) हमारा (यत्) जो (तपः) प्राणायामादि उत्तम तप है उस को भी (मा) मत नाश करे । (नः) हमारी दीक्षा और (आयुषे) जीवन के लिए सब प्रजा (शिवाः) कल्याण करनेहारी (सन्तु) होवें। जैसे हमारी (मातरः) माता पितामही प्रपितामही आदि (शिवाः) कल्याण करनेहारी होती हैं, वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझ को वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देनेहारे (भवन्तु) होवें ।।६।।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्त्या विद्वांसो भैक्ष्यचर्याञ्चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।७।।

—मुण्डकोपनि० मुं० १ । ख० २ । मं० ११।।

अर्थ—हे मनुष्यो ! (ये) जो (विद्वांसः) विद्वान् लोग (अरण्ये) जंगल में (शान्त्या) शान्ति के साथ (तपःश्रद्धे) योगाभ्यास और परमात्मा में प्रीति करके (उपवसन्ति) वनवासियों के समीप वसते हैं, और (भैक्ष्यचर्याम्) भिक्षाचरण को (चरन्तः) करते हुए जंगल में निवास करते हैं, (ते) वे (हि) ही (विरजाः) निर्दोष निष्पाप निर्मल होके (सूर्यद्वारेण) प्राण के द्वारा (यत्र) जहां (सः) सो (अमृतः) मरण-जन्म से पृथक् (अव्ययात्मा) नाशरहित (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा विराजमान है, (हि) वहीं (प्रयान्ति) जाते हैं । इसलिए वानप्रस्थाश्रम करना अति उत्तम है ।।७।।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः ।।१।।
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।।२।।
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ।।३।।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़के समावर्तन के समय स्नानविधि करनेहारा द्विज=ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय जितात्मा होके यथावत् गृहाश्रम करके वन में वसे ।।१।।

गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें, और पुत्र का भी पुत्र हो जाय, तब वन का आश्रय लेवें ।।२।।

जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें, तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़के पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ अथवा संग में लेके वन को जावें ।।३।।

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ।।४।।

जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्निहोत्र को सामग्री-सहित लेके ग्राम से निकल जङ्गल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे ।।४।।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ।।५।।
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ।।६।।
एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ।।७।।

—मनु० अ० ६।।

अर्थ—वहां जंगल में वेदादिशास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्य युक्त मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्वस्त्री भी समीप हो तथापि उस से सेवा के सिवाय विषय-सेवन अर्थात् प्रसङ्ग कभी न करे । सब से मित्रभाव, सावधान, नित्य देनेहारा, और किसी से कुछ भी न लेवे । सब प्राणीमात्र पर अनुकम्पा=कृपा रखनेहारा होवे ।।५।।

जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों, जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, उन के घरों में से भिक्षा ग्रहण करे ।।६।।

और इस प्रकार वन में वसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना-विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे । इसी प्रकार जब तक संन्यास करने की इच्छा न हो, तब तक वानप्रस्थ ही रहे ।।७।।

अथ विधि—वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, पुत्रवधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तैयारी करे । यदि स्त्री चले तो साथ ले जावे, नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावे कि इस की सेवा यथावत् किया करना । और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्ममार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिए शिक्षा करती रहना ।

तत्पश्चात् पृष्ठ १२-१३ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला वेदी आदि सब बनावे । पृष्ठ १३-१४ में लिखे घृत आदि सब सामग्री जोड़के पृष्ठ १८-१९ में लिखे प्रमाणे (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०) इस मन्त्र से अग्न्याधान, और (अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके, पृष्ठ २० में लिखे प्रमाणे (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से कुण्ड के चारों

ओर जलप्रोक्षण करके, पृष्ठ २०–२१ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आज्याहुति ४ चार करके, पृष्ठ ७–११ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके, स्थालीपाक बनाकर और उस पर घृत सेचन कर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे–

ओम् काय स्वाहा। कस्मै स्वाहा। कतमस्मै स्वाहा। स्वाहाऽऽधिमाधीताय स्वाहा। मनः प्रजापतये स्वाहा। चित्तं विज्ञाताय आदित्यै स्वाहा। अदित्यै मह्यै स्वाहा। अदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा। सरस्वत्यै स्वाहा। सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा। सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा। पूष्णे स्वाहा। पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा। पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा। त्वष्ट्रे स्वाहा। त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा। त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा॥ –यजु० अ० २२। मं० २० ॥

भुवनस्य पतये स्वाहा। अधिपतये स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा॥

–यजु० अ० २२। मं० ३२ ॥

ओम् आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। अपानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। उदानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। समानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। वाग्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। मनो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। आत्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा ॥

–यजु० अ० २२। मं० ३३ ॥

एकस्मै स्वाहा । द्वाभ्यां स्वाहा । शताय स्वाहा ।
एकशताय स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहा ॥

–यजु० अ० २२। मं० ३४ ॥

इन मन्त्रों से एक–एक करके ४३ स्थालीपाक की आज्याहुति देके, पुनः पृष्ठ २१ में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति ४ चार देकर, पृ० २३–२४ में लिखे प्रमाणे सामगान करके, सब इष्ट–मित्रों से मिल, पुत्रादिकों पर सब घर का भार धरके, अग्निहोत्र की सामग्री सहित जङ्गल में जाकर एकान्त में निवासकर योगाभ्यास, शास्त्रों का विचार, महात्माओं का सङ्ग करके स्वात्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे ॥

इति वानप्रस्थसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

[१५]

अथ संन्यासस‌ंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'संन्यास संस्कार' उस को कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे । अर्थात्—

सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्यकर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स 'संन्यासः' । संन्यासो विद्यते यस्य स 'संन्यासी' ।

काल—प्रथम जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे। यह क्रम संन्यास, अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता-करता वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है, उसी को **'क्रम संन्यास'** कहते हैं ।

द्वितीय प्रकार—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद् वा गृहाद् वा ।' यह ब्राह्मणग्रन्थ का वाक्य है ।

अर्थ—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन, चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो, अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे । क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है ।

तृतीय प्रकार—'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' ।।

यह भी ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है ।

यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सब के उपकार करने की इच्छा होवे, और जिस को दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरण-पर्यन्त यथावत् संन्यास-धर्म का निर्वाह कर सकूंगा तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे ।

अत्र वेदप्रमाणानि—

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा । बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महद् इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥१॥

आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः ।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥२॥

अर्थ—मैं ईश्वर संन्यास लेनेहारे तुझ मनुष्य को उपदेश करता हूं कि जैसे (वृत्रहा) मेघ का नाश करनेहारा (इन्द्रः) सूर्य (शर्यणावति) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित (सोमम्) रस को पीता है, वैसे संन्यास लेनेवाला पुरुष उत्तम मूल फलों के रस को (पिबतु) पीवे और (आत्मनि) अपने आत्मा में (महत्) बड़े (वीर्यम्) सामर्थ्य को (करिष्यन्) करूंगा, ऐसी इच्छा करता हुआ (बलं दधानः) दिव्य बल को धारण करता हुआ (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिए, हे (इन्दो) चन्द्रमा के तुल्य सब को आनन्द करनेहारे पूर्ण विद्वान् तू संन्यास लेके सब पर (परि स्रव) सत्योपदेश की वृष्टि कर ॥१॥

हे (सोम) सोम्यगुणसम्पन्न (मीढ्वः) सत्य से सब के अन्तःकरण को सींचनेहारे, (दिशां पते) सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देके पालन करनेहारे, (इन्दो) शमादिगुणयुक्त संन्यासिन् ! तू (ऋतवाकेन) यथार्थ बोलने, (सत्येन) सत्यभाषण करने से, (श्रद्धया) सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और (तपसा) प्राणायाम योगाभ्यास से, (आर्जीकात्) सरलता से (सुतः) निष्पन्न होता हुआ, तू अपने शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि को (आ पवस्व) पवित्र कर। (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिए (परिस्रव) सब ओर से गमन कर ॥२॥

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् । श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥३॥

अर्थ—हे (ऋतद्युम्न) सत्यधन और सत्य कीर्तिवाले यतिवर ! (ऋतं वदन्) पक्षपात छोड़के यथार्थ बोलता हुआ, हे (सत्यकर्मन्) सत्य वेदोक्त कर्मवाले संन्यासिन् ! (सत्यं वदन्) सत्य बोलता हुआ, (श्रद्धाम्) सत्यधारण में प्रीति करने को (वदन्) उपदेश करता हुआ, (सोम) सोम्यगुणसम्पन्न, (राजन्) सब ओर से प्रकाशयुक्त आत्मावाले, (सोम) योगैश्वर्ययुक्त (इन्दो) सब को आनन्ददायक संन्यासिन् ! तू (धात्रा) सकल विश्व के धारण करनेहारे परमात्मा से योगाभ्यास करके (परिष्कृतः) शुद्ध होता हुआ (इन्द्राय) योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिए (परिस्रव) यथार्थ पुरुषार्थ कर ॥३॥

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन् । ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन् इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥४॥

अर्थ—हे (छन्दस्याम्) स्वतन्त्रतायुक्त (वाचम्) वाणी को (वदन्)

कहते हुए (सोमेन) विद्या, योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से (आनन्दम्) सब के लिए आनन्द को (जनयन्) प्रकट करते हुए, (इन्दो) आनन्दप्रद, (पवमान) पवित्रात्मन्, पवित्र करनेहारे संन्यासिन्! (यत्र) जिस (सोमे) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा में (ब्रह्मा) चारों वेदों का जाननेहारा विद्वान् (महीयते) महत्त्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है । जैसे (ग्राव्णा) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है, वैसे तू सब को (इन्द्राय) परमैश्वर्य्ययुक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिये सब साधनों को (परिस्रव) सब प्रकार से प्राप्त करा ।।४।।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।५।।

अर्थ—हे (पवमान) अविद्यादि क्लेशों के नाश करनेहारे, पवित्रस्वरूप, (इन्दो) सर्वानन्ददायक परमात्मन् ! (यत्र) जहां तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरन्तर व्यापक तेरा (ज्योतिः) तेज है, (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझ में (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है, (तस्मिन्) उस (अमृते) जन्म-मरण और (अक्षिते) नाश से रहित (लोके) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप (मा) मुझ को (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्ति के लिये (धेहि) कृपा से धारण कीजिए और मुझ पर माता के समान कृपाभाव से (परिस्रव) आनन्द की वर्षा कीजिए ।।५।।

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः । यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र मामममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।६।।

अर्थ—हे (इन्दो) आनन्दप्रद परमात्मन् ! (यत्र) जिस तुझ में (वैवस्वतः) सूर्य का प्रकाश (राजा) प्रकाशमान हो रहा है, (यत्र) जिस आप में (दिवः) बिजुली अथवा बुरी कामना की (अवरोधनम्) रुकावट है, (यत्र) जिस आप में (अमूः) वे कारणरूप (यह्वतीः) बड़े व्यापक आकाशस्थ (आपः) प्राणप्रद वायु हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्षप्राप्त (कृधि) कीजिए । (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिए (परिस्रव) आदर भाव से आप मुझ को प्राप्त हूजिये ।।६।।

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः । लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र मामममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।७।।

अर्थ—हे (इन्दो परमात्मन् ! (यत्र) जिस आप में (अनुकामम्) इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र (चरणम्) विहरना है, (यत्र) जिस (त्रिनाके) त्रिविध अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक दुःख से रहित, (त्रिदिवे) तीन सूर्य, विद्युत् और भौम्य अग्नि से प्रकाशित

सुखस्वरूप में (दिवः) कामना करनेयोग्य शुद्ध कामनावाले, (लोकाः) यथार्थ ज्ञानयुक्त, (ज्योतिष्मन्तः) शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) मोक्षप्राप्त (कृधि) कीजिये । और (इन्द्राय) उस परम आनन्दैश्वर्य के लिये (परिस्रव) कृपा से प्राप्त हूजिये ।।७।।

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।८।।

अर्थ—हे (इन्दो) निष्कामानन्दप्रद, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! (यत्र) जिस आप में (कामाः) सब कामना (निकामाः) और अभिलाषा छूट जाती हैं, (च) और (यत्र) जिस आप में (ब्रध्नस्य) सब से बड़े प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख, (च) और (यत्र) जिस आप में, (स्वधा) अपना ही धारण, (च) और जिस आप में (तृप्तिः) पूर्ण तृप्ति है, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझ को (अमृतम्) प्राप्त-मुक्तिवाला (कृधि) कीजिये तथा (इन्द्राय) सब दुःख-विदारण के लिए आप मुझ पर (परिस्रव) करुणावृत्ति कीजिए ।।८।।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ।।९।।

—ऋ० म० ९ । सू० ११३।।

अर्थ—हे (इन्दो) सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर ! (यत्र) जिस आप में (आनन्दाः) सम्पूर्ण समृद्धि, (च) और (मोदाः) सम्पूर्ण हर्ष, (मुदः) सम्पूर्ण प्रसन्नता, (च) और (प्रमुदः) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित हैं, (यत्र) जिस आप में (कामस्य) अभिलाषी पुरुष की (कामाः) सब कामना (आप्ताः) प्राप्त होती हैं, (तत्र) उसी अपने स्वरूप में (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (माम्) मुझ को (अमृतम्) जन्म-मृत्यु के दुःख से रहित मोक्षप्राप्तियुक्त कि जिस से मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता, उस मुक्ति की प्राप्तिवाला (कृधि) कीजिए और इसी प्रकार सब जीवों को (परिस्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिए ।।९।।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूळमा सूर्यमजभर्त्तन ।।१०।।

—ऋ० म० १० । सू० ७२ । मं० ७।।

अर्थ—हे (देवाः) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगो ! तुम (यथा) जैसे (अत्र) इस (समुद्रे) आकाश में (गूढम्) गुप्त (आ सूर्यम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्यादि का प्रकाशक परमात्मा है, उस को (आ

अजभर्त्तन) चारों ओर से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ, वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं, उन को सदा (अपिन्वत) विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो, यही तुम्हारा परम धर्म है ॥१०॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥११॥

—अथर्व० का० १९ । सू० ४१ । मं० १॥

अर्थ—हे विद्वानो ! जो (ऋषयः) वेदार्थविद्या को प्राप्त, (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त, (अग्रे) प्रथम (तपः) ब्रह्मचर्यरूप आश्रम को पूर्णता से सेवन तथा यथावत् स्थिरता से प्राप्त होके (भद्रम्) कल्याण की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुए, (दीक्षाम्) संन्यास की दीक्षा को (उपनिषेदुः) ब्रह्मचर्य ही से प्राप्त होवें, उन का (देवाः) विद्वान् लोग (उपसंनमन्तु) यथावत् सत्कार किया करें। (ततः) तदनन्तर (राष्ट्रम्) राज्य (बलम्) बल (च) और (ओजः) पराक्रम (जातम्) उत्पन्न होवे, (तत्) उस से (अस्मै) इस संन्यासाश्रम के पालन के लिये यत्न किया करें ॥११॥

अथ मनुस्मृतेश्श्लोकाः

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥१॥
अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे नियोजयेत् ॥२॥
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥३॥
यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥४॥
आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥५॥
अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसङ्कुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥६॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥७॥

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ८॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ९॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥१०॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥११॥
दूषितोऽपि चरेद् धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥१२॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥१३॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥१४॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥१५॥
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥१६॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥१७॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥१८॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥१९॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥२०॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥२१॥
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्ग्यम् इदमानन्त्यमिच्छताम् ॥२२॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक से अधिक २५ पच्चीस वर्ष, अथवा न्यून से न्यून १२ बारह वर्ष तक विहार करके, आयु के चौथे भाग अर्थात् ७० सत्तर वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी हो जावे ॥१॥

विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़, गृहाश्रमी होकर धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर, वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे ॥२॥

प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिस में यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके, ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ॥३॥

जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता है, उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्षलोक और सब लोक-लोकान्तर तेजोमय=ज्ञान से प्रकाशमय हो जाते हैं ॥४॥

जब सब कामों को जीत लेवे, और उन की अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण मननशील हो जावे, तभी गृहाश्रम से निकलकर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे । अथवा ब्रह्मचर्य ही से संन्यास का ग्रहण कर लेवे ॥५॥

वह संन्यासी (अनग्निः*) आहवनीयादि अग्नियों से रहित, और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बांधे । और अन्न-वस्त्रादि के लिये ग्राम का आश्रय लेवे । बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिरबुद्धि, मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे ॥६॥

न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने। किन्तु जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है, वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ॥७॥

चलते समय आगे-आगे देखके पग धरे । सदा वस्त्र से छानकर

---

* इसी पद से भ्रान्ति में पड़के संन्यासियों का दाह नहीं करते, और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते । यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया । यहां आहवनीयादिसंज्ञक अग्नियों को छोड़ना है स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है ।

जल पीवे। सब से सत्य वाणी बोले, अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे। जो कुछ व्यवहार करे, वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे ॥८॥

इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस, मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और सब को सत्योपदेश करता रहे ॥९॥

सब शिर के बाल दाढ़ी मूंछ और नखों को समय-समय पर छेदन कराता रहे। पात्री दण्डी और कुसुम्भ के रंगे हुए* वस्त्रों को धारण किया करे। सब भूत=प्राणीमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढात्मा होकर नित्य विचरा करे ॥१०॥

जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय, और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥११॥

यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमान भी करें, तथापि धर्म ही का आचरण करे। ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है। सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर समबुद्धि रक्खे। इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिये संन्यासाश्रम का विधि है। किन्तु केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है ॥१२॥

यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करनेवाला है, तथापि उस के नामग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता, किन्तु उस को ले, पीस, जल में डालने से ही उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है। वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता, किन्तु अपने-अपने आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है, अन्यथा नहीं ॥१३॥

इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिए संन्यासी पुरुष विधि-वत् **योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगाके,** जैसा कि पृष्ठ १५६ में प्राणायाम का मन्त्र लिखा है, उस को मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है ॥१४॥

क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल छूट जाते हैं, वैसे ही प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं ॥१५॥

इसलिए संन्यासी लोग प्राणायामों से दोषों को धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को, प्रत्याहार से सङ्ग से हुए दोषों और ध्यान से अविद्या, पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ाके, पक्षपातरहित

* अथवा गेरू से रंगे हुए वस्त्रों को पहिने।

आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर, सब दोषों को भस्म कर देवे ।।१६।।

बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में जो **अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है,** उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे ।।१७।।

जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान वा षट्दर्शनों से युक्त है, वह दुष्ट कर्मों से बद्ध नहीं होता । और जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्सङ्ग, धर्मानुष्ठान, वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञानहीन होकर संन्यास लेता है, वह संन्यास पदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त होता है और ऐसे मूर्ख अधर्मी को संन्यास का लेना व्यर्थ और धिक्कार देने योग्य है ।।१८।।

और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बन्धन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म इसी वर्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं । उन का संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है ।।१९।।

जब संन्यासी सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है, तभी इस लोक इस जन्म, और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर* सुख को प्राप्त होता है ।।२०।।

इस विधि से धीरे-धीरे सब सङ्ग से हुए दोषों को छोड़के, सब हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त होके, विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ।।२१।।

और जो विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे, वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का सङ्ग, योगाभ्यास और ओङ्कार का जप और उस के अर्थ=परमेश्वर का विचार भी किया करे। यही अज्ञानियों का शरण, अर्थात् गौण संन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का, और यही सुख का खोज करनेहारे, और यही अनन्त** सुख की इच्छा करनेहारे मनुष्यों का आश्रय है ।।२२।।

इस क्रमानुसार संन्यासयोग से जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य संन्यास ग्रहण करता है, वह इस संसार और शरीर में सब पापों को छोड़-छुड़ाके परब्रह्म को प्राप्त होता है ।।२३।।

---

* निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता ।

** अनन्त इतना ही है कि मुक्ति-सुख के समय में अन्त अर्थात् जिस का नाश न होवे ।

विधि—जो पुरुष संन्यास लेना चाहे वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्नता हो, उसी दिन नियम और व्रत, अर्थात् तीन दिन तक दुग्धपान करके उपवास और भूमि में शयन और प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्तदेश में ओङ्कार का जप किया करे और पृष्ठ १२–१४ में लिखे प्रमाणे सभामण्डप, वेदी, समिधा, घृतादि शाकल्य सामग्री एक दिन पूर्व कर रखनी। पश्चात् जिस चौथे दिन संन्यास लेना हो, प्रहर रात्रि से उठकर शौच, स्नानादि आवश्यक कर्म करके, प्राणायाम, ध्यान और प्रणव का जप करता रहे। सूर्योदय के समय उत्तम गृहस्थ धार्मिक विद्वानों का पृष्ठ १८ में लिखे प्रमाणे वरण कर, पृष्ठ १९–२० में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, घृतप्रतपन और स्थालीपाक करके पृ० ७–११ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन–शान्तिकरण का पाठ कर, पृ० २० में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जलप्रोक्षण, आघारावाज्यभागाहुति ४ चार और व्याहृति आहुति ४ चार, तथा—

ओं भुवनपतये स्वाहा ॥१॥
ओं भूतानां पतये स्वाहा ॥२॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥३॥

इन में से एक–एक मन्त्र से एक–एक करके ११ ग्यारह आज्याहुति देके, जो विधिपूर्वक भात बनाया हो उस में घृत–सेचन करके, यजमान जो कि संन्यास का लेनेवाला है, और दो ऋत्विज् निम्नलिखित स्वाहान्त मन्त्रों से भात का होम और शेष दो ऋत्विज् भी साथ–साथ घृताहुति करते जावें—

ओं ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः स्वाहा ॥१॥

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता। ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा ॥२॥

अंहोमुचे प्र भरे मनीषा मा सुत्राम्णे सुमतिमावृणानः। इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः स्वाहा ॥३॥

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्। अपां नपातमश्विना हुवे धियेन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः स्वाहा ॥४॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे। अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥५॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे। वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे इदन्न मम ॥६॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा॥ इदं सूर्याय इदन्न मम ॥७॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा॥ इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥८॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा॥ इदं सोमाय इदन्न मम ॥९॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय इदन्न मम ॥१०॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोपतिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहा ॥ इदमद्भ्यः इदन्न मम ॥११॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहा ॥ इदं ब्रह्मणे इदन्न मम ॥१२॥

—अथर्व० कां० १९। सू० ४२, ४३॥

ओं प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्ताम् ।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१॥

वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुद्ध्याकूतिसङ्कल्पा मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥२॥

शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोरूदरजङ्घा शिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥३॥

त्वक्चर्ममाꣳसरुधिरमेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥४॥

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥५॥

पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशा मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥६॥

अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥७॥

विविष्ट्यै स्वाहा ॥८॥

कषोत्काय स्वाहा ॥९॥

उत्तिष्ठ पुरुष हरित लोहित पिङ्गलाक्षि । देहि देहि ददापयिता मे शुध्यताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१०॥

ओं स्वाहा मनोवाक्कायकर्माणि मे शुध्यन्ताम् ।

ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥११॥

अव्यक्तभावैरहङ्कारैर्ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१२॥

आत्मा मे शुध्यताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१३॥

अन्तरात्मा मे शुध्यताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥१४॥

परमात्मा मे शुध्यताम् । ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा* ॥१५॥

इन १५ मन्त्रों में से एक-एक करके भात की आहुति देनी । पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से ३५ घृताहुति देवें-

ओमग्नये स्वाहा ॥१६॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥१७॥
ओं ध्रुवाय भूमाय स्वाहा ॥१८॥
ओं ध्रुवक्षितये स्वाहा ॥१९॥
ओमच्युतक्षितये स्वाहा ॥२०॥
ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा ॥२१॥
ओं धर्माय स्वाहा ॥२२॥
ओमधर्माय स्वाहा ॥२३॥
ओमद्भ्यः स्वाहा ॥२४॥
ओमोषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा ॥२५॥
ओं रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा॥२६॥
ओं गृह्याभ्यः स्वाहा ॥२७॥
ओमवसानेभ्यः स्वाहा ॥२८॥
ओमवसानपतिभ्यः स्वाहा ॥२९॥
ओं सर्वभूतेभ्यः स्वाहा ॥३०॥
ओं कामाय स्वाहा ॥३१॥

---

* (प्राणापान) इत्यादि से लेके (परमात्मा में शुध्यताम्)इत्यन्त मन्त्रों से संन्यासी के लिये उपदेश है, अर्थात् जो संन्यासाश्रम ग्रहण करे, वह धर्माचरण सत्योपदेश, योगाभ्यास, शम, दम, शान्ति, सुशीलतादि, विद्या-विज्ञानादि शुभ गुण, कर्म, स्वभावों से सहित होकर, परमात्मा को अपना सहायक मान कर, अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर, प्राण, मन, इन्द्रियादि को अशुद्ध व्यवहार से हटा शुद्ध व्यवहार में चलाके, पक्षपात, कपट, अधर्म व्यवहारों को छोड़, अन्य के दोष पढ़ाने और उपदेश से छुड़ा कर, स्वयम् आनन्दित होके, सब मनुष्यों को आनन्द पहुंचाता रहे ।

ओमन्तरिक्षाय स्वाहा ॥३२॥ **ओं पृथिव्यै स्वाहा ॥३३॥**
ओं दिवे स्वाहा ॥३४॥ **ओं सूर्याय स्वाहा ॥३५॥**
ओं चन्द्रमसे स्वाहा ॥३६॥ **ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥३७॥**
ओमिन्द्राय स्वाहा ॥३८॥ **ओं बृहस्पतये स्वाहा ॥३९॥**
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥४०॥ **ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥४१॥**
ओं देवेभ्यः स्वाहा ॥४२॥ **ओं परमेष्ठिने स्वाहा ॥४३॥**
ओं तद् ब्रह्म ॥४४॥ **ओं तद्वायुः ॥४५॥**
ओं तदात्मा ॥४६॥ **ओं तत्सत्यम् ॥४७॥**
ओं तत्सर्वम् ॥४८॥ **ओं तत्पुरोर्नमः ॥४९॥**

अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु । त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वं रुद्रस्त्वꣳ विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः । त्वं तदाप आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों स्वाहा* ॥५०॥

इन ५० मन्त्रों से आज्याहुति देके तदनन्तर जो संन्यास लेनेवाला है, वह पांच वा छः केशों को छोड़कर पृष्ठ ५९–६१ में लिखे प्रमाणे डाढ़ी मूंछ केश लोमों का छेदन अर्थात् क्षौर कराके यथावत् स्नान करे। तदनन्तर संन्यास लेनेवाला पुरुष अपने शिर पर पुरुषसूक्त के मन्त्रों से १०८ एक सौ आठ बार अभिषेक करे । पुनः पृष्ठ १५५–१५६ में लिखे प्रमाणे आचमन और प्राणायाम करके, हाथ जोड़, वेदी के सामने नेत्रोन्मीलन कर मन से–

ओं ब्रह्मणे नमः ॥१॥ **ओमिन्द्राय नमः ॥४॥**
ओं सूर्याय नमः ॥२॥ **ओं सोमाय नमः ॥५॥**
ओमात्मने नमः ॥३॥ **ओमन्तरात्मने नमः ॥६॥**

इन छह मन्त्रों को जपके–

ओमात्मने स्वाहा ॥१॥ **ओमन्तरात्मने स्वाहा ॥२॥**
ओं परमात्मने स्वाहा ॥३॥ **ओं प्रजापतये स्वाहा ॥४॥**

इन चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति देकर, कार्यकर्त्ता–संन्यास ग्रहण करनेवाला पुरुष पृष्ठ १०८–१०९ में लिखे प्रमाणे मधुपर्क की क्रिया करे । तदनन्तर प्राणायाम करके–

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥१॥

* ये सब प्राणापानव्यान० आदि मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक दशम प्रपाठक अनुवाक ५१। ५२। ५३। ५४। ५५। ५६। ५७। ५८। ५९। ६०॥ ६६। ६७। ६८ के हैं ।

ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥२॥
ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥३॥
ओं भूर्भुवः स्वः। सावित्रीं प्रविशामि । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥४॥

इन मन्त्रों को मन से जपे ।

ओमग्नये स्वाहा ॥१॥
ओं भूः प्रजापतये स्वाहा ॥२॥
ओमिन्द्राय स्वाहा ॥३॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥४॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥५॥
ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥६॥
ओं प्राणाय स्वाहा ॥७॥
ओमपानाय स्वाहा ॥८॥
ओं व्यानाय स्वाहा ॥९॥
ओमुदानाय स्वाहा ॥१०॥
ओं समानाय स्वाहा ॥११॥

इन मन्त्रों से वेदी में आज्याहुति देके—

ओं भूः स्वाहा ॥१॥

इस मन्त्र से पूर्णाहुति करके—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्त्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति* ॥ —श० कां० १४॥

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता, मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा* ॥

इस वाक्य को बोलके सब के सामने जल को भूमि में छोड़ देवे। पीछे नाभिमात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर—

---

* पुत्रादि के मोह, वित्तादि पदार्थों के मोह और लोकस्थ प्रतिष्ठा की इच्छा से मन को हटाकर परमात्मा में आत्मा को दृढ़ करके जो भिक्षाचरण करते हैं, वे ही सब को सत्योपदेश से अभयदान देते हैं, अर्थात् दहने हाथ में जल लेके मैंने आज से पुत्रादि का तथा वित्त का मोह और लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करने का त्याग कर दिया, और मुझ से सब भूत प्राणीमात्र को अभय प्राप्त होवे, यह मेरी सत्य वाणी है ।

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि ॥
ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि परो रजसेऽसावदोम् ॥

इस का मन से जप करके प्रणवार्थ परमात्मा का ध्यान करके पूर्वोक्त (पुत्रैषणायाश्च०) इस समग्र कण्डिका को बोलके प्रेष्य मन्त्रोच्चारण करे ।

ओं भूः संन्यस्तं मया । ओं भुवः संन्यस्तं मया ।
ओं स्वः संन्यस्तं मया ॥

इस मन्त्र का मन से उच्चारण करे । तत्पश्चात् जल से अञ्जलि भर पूर्वाभिमुख होकर संन्यास लेनेवाला–

ओम् अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा ॥

इस मन्त्र से दोनों हाथ की अञ्जलि को पूर्व दिशा में छोड़ देवे।

येना सहस्त्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम् ।
तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे* ॥

–अथर्व० का० ९। सू० ५। मं० १७।।

और इस पर स्मृति है–

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥

इस श्लोक का अर्थ पहले लिख दिया है ।

इस के पश्चात् मौन करके शिखा के लिये जो पांच वा सात केश रक्खे थे, उन को एक-एक उखाड़ और यज्ञोपवीत उतारकर हाथ में ले जल की अञ्जलि भर–

ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा ॥
ओं भूः स्वाहा ॥

इन मन्त्रों से शिखा के बाल और यज्ञोपवीत सहित जलाञ्जलि

---

* हे (अग्ने) विद्वन् ! (येन) जिस से (सहस्त्रम्) सब संसार को अग्नि धारण करता है, और (येन) जिस से तू (सर्ववेदसम्) गृहाश्रमस्थ पदार्थमोह यज्ञोपवीत और शिखा आदि को (वहसि) धारण करता है, उन को छोड़। (तेन) उस त्याग से (नः) हम को (इमम्) इस संन्यासरूप (स्वाहा) सुख देनेहारे (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य यज्ञ को (देवेषु) विद्वानों में (गन्तवे) जाने को (वह) प्राप्त हो ।

को जल में होम कर देवे ।

उस के पश्चात् आचार्य शिष्य को जल से निकालके काषाय वस्त्र की कोपीन, कटिवस्त्र, उपवस्त्र, अंगोछा, प्रीतिपूर्वक देवे । और शिष्य पृष्ठ ७४ में लिखे प्रमाणे (यो मे दण्डः०) इस मन्त्र से दण्ड धारण करके आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करे ।

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम्[१] ॥१॥

सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः[२] ॥२॥

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रति पश्यति देवयजनं प्रेक्षते[३] ॥३॥

यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्रणयति[४] ॥४॥

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः[५] ॥५॥

---

१. (यः) **जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात्कारता से (ब्रह्म) परमात्मा को (विद्यात्) जाने,** (यस्य) जिस के (परूंषि) कठोर स्वभाव आदि, (सम्भाराः) होम करने के साकल्य और (यस्य) जिस के (ऋचः) यथार्थ सत्यभाषण, सत्योपदेश और ऋग्वेद ही (अनूक्यम्) अनुकूलता से कहने के योग्य वचन हैं, वही संन्यास ग्रहण करे ॥१॥

२. (यस्य) जिस के (सामानि) सामवेद (लोमानि) लोम के समान, (यजुः) यजुर्वेद जिस के (हृदयम्) हृदय के समान (उच्यते) कहा जाता है, (परिस्तरणम्) जो सब ओर से शास्त्र, आसन आदि सामग्री (हविरित्) होम करने योग्य के समान है, वह संन्यास ग्रहण करने में योग्य होता है ॥२॥

३. (वा) वा (यत्) जो (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालन करने हारा (अतिथीन्) अतिथियों के प्रति (प्रतिपश्यति) देखता है, वही विद्वान् संन्यासियों में (देवयजनम्) विद्वानों के यजन करने के समान (प्रेक्षते) ज्ञानदृष्टि से देखता और संन्यास लेने का अधिकारी होता है ॥३॥

४. और (यत्) जो संन्यासी (अभिवदति) दूसरे के साथ संवाद वा दूसरे को अभिवादन करता है, वह जानो (दीक्षाम्) दीक्षा को (उपैति) प्राप्त होता है, (यत्) जो (उदकम्) जल की (याचति) याचना करता है, वह जानो (अपः) प्रणीता आदि में जल को (प्रणयति) डालता है ॥४॥

५. (यज्ञे) यज्ञ में (याः एव) जिन्हीं (आपः) जलों का (प्रणीयन्ते) प्रयोग किया जाता है (ता एव) वे ही (ताः) पात्र में रक्खे जल संन्यासी की यज्ञस्थ जलक्रिया हैं ॥५॥

यदावसथान् कल्पयन्ति सदो हविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति[१] ॥६॥

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत्[२] ॥७॥

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति[३] ॥८॥

स्त्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्त्रुक्कारेण वषट्कारेण[४] ॥९॥

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः[५] ॥१०॥

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति[६] ॥११॥

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति[७] ॥१२॥

---

१. संन्यासी (यत्) जो (आवसथान्) निवास स्थान (कल्पयन्ति) कल्पना करते हैं, वे (सदः) यज्ञशाला (हविर्धानान्येव) हविष् के स्थापन करने के ही पात्र (तत्) वे कल्पयन्ति समर्थित करते हैं ॥६॥[१] द० स०

२. और (यत्) जो संन्यासी लोग (उपस्तृणन्ति) बिछौने आदि करते हैं, (बर्हिरेव तत्) वह कुशपिञ्जूली के समान है ॥७॥

३. और जो (तेषाम्) उन (आसन्नानाम्) समीप बैठनेहारों के निकट बैठा हुआ (अतिथिः) जिस की कोई नियत तिथि न हो, वह भोजनादि करता है, वह (आत्मन्) जानो वेदीस्थ अग्नि में होम करने के समान आत्मा में (जुहोति) आहुतियां देता है ॥८॥

४. और जो संन्यासी (हस्तेन) हाथ से खाता है, वह जानो (स्त्रुचा) चमसा आदि से वेदी में आहुति देता है । जैसा (यूपे) स्थम्भे में अनेक प्रकार के पशु आदि को बांधते हैं, वैसे वह संन्यासी (स्त्रुक्कारेण) स्त्रुचा के समान (वषट्कारेण) होमक्रिया के तुल्य (प्राणे) प्राण में मन और इन्द्रियों को बांधता है ॥९॥

५. (एते वै) ये ही (ऋत्विजः) समय-समय में प्राप्त होनेवाले (प्रियाः च अप्रियाः च) प्रिय और अप्रिय भी संन्यासी जन (यत्) जिस कारण (अतिथयः) अतिथिरूप हैं, इस से गृहस्थ को (स्वर्गं लोकम्) दर्शनीय अत्यन्त सुख को (गमयन्ति) प्राप्त कराते हैं ॥१०॥

६. (एतस्य) इस संन्यासी का (प्राजापत्यः) प्रजापति परमात्मा को जानने का आश्रमधर्मानुष्ठान रूप (यज्ञः) अच्छे प्रकार करने योग्य यतिधर्म (विततः) व्यापक है, अर्थात् (यः) जो इस को सर्वोपरि (उपहरति) स्वीकार करता है, (वै) वही संन्यासी होता है ॥११॥

७. (यः) जो (एषः) यह संन्यासी (प्रजापतेः) परमेश्वर के जानने रूप संन्यासाश्रम के (विक्रमान्) सत्याचारों की (अनुविक्रमते) अनुकूलता से क्रिया करता है, (वै) वही सब शुभगुणों को (उपहरति) स्वीकार करता है ॥१२॥

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः[१] ॥१३॥

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति[२] ॥१४॥ —अथर्व० का० ९। सू० ६॥

***तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता**

---

१. (यः) जो (अतिथीनाम्) अतिथि अर्थात् उत्तम संन्यासियों का संग है, (सः) वह संन्यासी के लिए (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि अर्थात् जिस में ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी होम करता है, और (यः) जो संन्यासी का (वेश्मनि) घर में अर्थात् स्थान में निवास है, (सः) वह उस के लिए (गार्हपत्यः) गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि है, और संन्यासी का (यस्मिन्) जिस जाठराग्नि में अन्नादि को (पचन्ति) पकाते हैं (सः) वह (दक्षिणाग्निः) वानप्रस्थ सम्बन्धी अग्नि है, इस प्रकार आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करे ॥१३॥

२. (यः) जो गृहस्थ (अतिथेः) संन्यासी से (पूर्वः) प्रथम (अश्नाति) भोजन करता है, (एषः) यह जानो (गृहाणाम्) गृहस्थों के (इष्टम्) इष्ट सुख (च) और उस की सामग्री, (पूर्त्तम्) तथा जो ऐश्वर्यादि की पूर्णता (च) और उस के साधनों का (वै) निश्चय करके (अश्नाति) भक्षण अर्थात् नाश करता है। इसलिए जिस गृहस्थ के समीप अतिथि उपस्थित होवे उस को पूर्व जिमाकर पश्चात् भोजन करना अत्युचित है ॥१४॥

* इस के आगे तैत्तिरीय आरण्यक का अर्थ करते हैं—(एवम्) इस प्रकार संन्यास ग्रहण किये हुए (तस्य) उस (विदुषः) विद्वान् संन्यासी के संन्यासाश्रमरूप (यज्ञस्य) अच्छे प्रकार अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ का (यजमानः) पति (आत्मा) स्वस्वरूप है, और जो ईश्वर, वेद और सत्यधर्माचरण, परोपकार में (श्रद्धा) सत्य का धारणरूप दृढ़ प्रीति है, वह उस की (पत्नी) स्त्री है, और जो संन्यासी का (शरीरम्) शरीर है, वह (इध्मम्) यज्ञ के लिए इन्धन है, और जो उस का (उरः) वक्षःस्थल है, वह (वेदिः) कुण्ड, और जो उस के शरीर पर (लोमानि) रोम हैं, वे (बर्हिः) कुशा हैं, और जो (वेदः) वेद और उन का शब्दार्थ-सम्बन्ध जानकर आचरण करना है, वह संन्यासी की (शिखा) चोटी है, और जो संन्यासी का (हृदयम्) हृदय है, वह (यूपः) यज्ञ का स्तम्भ है, और जो इस के शरीर में (कामः) काम है, वह (आज्यम्) ज्ञान अग्नि में होम करने का पदार्थ है, और जो (मन्युः) संन्यासी में क्रोध है, वह (पशुः) निवृत्त करने अर्थात् शरीर के मलवत् छोड़ने के योग्य है, और जो संन्यासी (तपः) सत्यधर्मानुष्ठान प्राणायामादि योगाभ्यास करता है, वह (अग्निः) जानो वेदी का अग्नि है, जो संन्यासी (दमः) अधर्माचरण से इन्द्रियों को रोकके धर्माचरण में स्थिर रखके चलाता है, वह (शमयिता)

चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्म श्रोत्रमग्नीत् । यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानम् । यद्रमते तदुपसदो यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखम् तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च तानि सवनानि । ये अहोरात्रे ते दर्शपौर्णमासौ येऽर्द्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथः । एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रं य एवं

जानो दुष्टों को दण्ड देनेवाला सभ्य है, और जो संन्यासी की (वाक्) सत्योपदेश करने के लिए वाणी है वह जानो सब मनुष्यों को (दक्षिणा) अभयदान देना है । जो संन्यासी के शरीर में (प्राणः) प्राण है, वह (होता) होता के समान, जो (चक्षुः) चक्षु है, वह (उद्गाता) उद्गाता के तुल्य, जो (मनः) मन है वह (अध्वर्युः) अध्वर्यु के समान, जो (श्रोत्रम्) श्रोत्र है, वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा और (अग्नीत्) अग्नि लानेवाले के तुल्य, (यावत् ध्रियते) जितना कुछ संन्यासी धारण करता है, (सा) वह (दीक्षा) दीक्षाग्रहण, और (यत्) जो संन्यासी (अश्नाति) खाता है (तद्धविः) वह घृतादि साकल्य के समान, (यत् पिबति) और जो वह जल, दुग्धादि पीता है, (तदस्य सोमपानम्) वह इस का सोमपान है, और (यद्रमते) वह जो इधर-उधर भ्रमण करता है, (तदुपसदः) वह उपसद उपसामग्री, (यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च) जो वह गमन करता, बैठता और उठता है (स प्रवर्ग्यः) यह इस का प्रवर्ग्य है, (यन्मुखम्) जो इस का मुख है (तदाहवनीयः) वह संन्यासी की आहवनीय अग्नि के समान, (या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानम्) जो संन्यासी का व्याहृति का उच्चारण करना वा जो इस का विज्ञान आहुतिरूप है (तज्जुहोति) वह जानो होम कर रहा है, (यत्सायं प्रातरत्ति) संन्यासी जो सायं और प्रातःकाल भोजन करता है (तत्समिधम्) वे समिधा हैं, (यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च) जो संन्यासी प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में कर्म करता है (तानि सवनानि) वे तीन सवन, (ये अहोरात्रे) जो दिन और रात्रि हैं (ते दर्शपौर्णमासौ) वे संन्यासी के पौर्णमासेष्टि और अमावास्येष्टि हैं, (येऽर्धमासाश्च, मासाश्च) जो कृष्ण शुक्लपक्ष और महीने हैं (ते चातुर्मास्यानि) वे संन्यासी के चातुर्मास्य याग हैं, (य ऋतवः) जो वसन्तादि ऋतु हैं (ते पशुबन्धाः) वे जानो संन्यासी के पशुबन्ध अर्थात् पशुओं का बांधना रखना है, (ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च) जो संवत्सर और परिवत्सर अर्थात् वर्ष वर्षान्तर हैं (तेऽहर्गणाः) वे संन्यासी के अहर्गण—दो रात्रि वा तीन रात्रि आदि के व्रत हैं, जो (सर्ववेदसं वै) सर्वस्व दक्षिणा अर्थात् शिखा सूत्र यज्ञोपवीत आदि पूर्वाश्रम चिह्नों का त्याग करना है, (एतत्सत्रम्) यह सब से बड़ा यज्ञ है, (यन्मरणम्) जो संन्यासी का मृत्यु है (तदवभृथः) वह यज्ञान्तस्नान है, (एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रम्) यही जरावस्था और

विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् ॥ —तैत्ति० आ० प्रपा १० । अनु० ६४॥

अथ संन्यासे पुनः प्रमाणानि—

*** न्यास इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम् । ब्रह्मा विश्वः कतमः स्वयम्भूः प्रजापतिः संवत्सर इति । संवत्सरोऽसावादित्यो यऽ एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा । याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति पर्जन्येनौषधि-वनस्पतयः प्रजायन्त ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिꣳ स्मृत्या स्मारꣳ स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति तस्मादन्नं ददन्त्सर्वाण्येतानि ददात्यन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानाम् । प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो**

मृत्युपर्यन्त अर्थात् यावज्जीवन है तावत् सत्योपदेश योगाभ्यासादि संन्यास के धर्म का अनुष्ठान अग्निहोत्ररूप बड़ा दीर्घ यज्ञ है। (य एवं विद्वानुदगयने०) जो इस प्रकार विद्वान् संन्यास लेकर विज्ञान, योगाभ्यास करके शरीर छोड़ता है वह विद्वानों ही के महिमा को प्राप्त होकर स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा के सङ्ग को प्राप्त होता है, और जो योग-विज्ञान से रहित है सो सांसारिक दक्षिणायनरूप व्यवहार में मृत्यु को प्राप्त होता है। वह पुनः पुनः माता-पिताओं ही के महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रलोक के समान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है और जो इन दोनों के महिमाओं को विद्वान् ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी जीत लेता है वह उस से परे परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर मुक्ति के समय-पर्यन्त मोक्ष-सुख को भोगता है ।

* (न्यास इत्याहुर्मनीषिणः०) इस अनुवाक का अर्थ सुगम है इसलिए भावार्थ कहते हैं । न्यास अर्थात् जो संन्यास शब्द का अर्थ पूर्व कह आये, उस रीति से जो संन्यासी होता है वह परमात्मा का उपासक है । वह परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त और पूर्ण है कि जिस के प्रताप से सूर्य तपता है । उस तपने से वर्षा, वर्षा से ओषधी वनस्पति की उत्पत्ति, उन से अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से बल, बल से तप अर्थात् प्राणायाम योगाभ्यास, उस से श्रद्धा—सत्यधारण में प्रीति, उस से बुद्धि, बुद्धि से विचारशक्ति, उस से ज्ञान, ज्ञान से शान्ति, शान्ति से चेतनता, चित्त से स्मृति, स्मृति से पूर्वापर का ज्ञान, उस से विज्ञान और विज्ञान से आत्मा को संन्यासी, जानता और जनाता है । इसलिए अन्नदान श्रेष्ठ जिस से प्राण, बल, विज्ञानादि होते हैं । जो प्राणों का आत्मा,

ब्रह्मयोनिः । स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशश्च स वै सर्वमिदं जगत् स भूतꣳ स भव्यं जिज्ञासक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महस्वांस्तमसो वरिष्ठात् । ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो मृत्युमुपयाहि विद्वान् । तस्मात् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः । वसुरण्वो विभूरसि प्राणे त्वमसि सन्धाता ब्रह्मंस्त्वमसि विश्वसृत् तेजोदास्त्वमस्यग्नेरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोऽसि ब्रह्मणे त्वा महसे । ओमित्यात्मानं युञ्जीत । एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम् । य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत् ॥ —तैत्ति० आ० प्रपा० १०। अनु० ६३॥

संन्यासी का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥१॥ —यजु० अ० ३६। मं० १८॥

अर्थ—हे (दृते) सर्वदुःखविदारक परमात्मन् ! तू (मा) मुझ को संन्यासमार्ग में (दृंह) बढ़ा । हे सर्वमित्र ! तू (मित्रस्य) सर्वसुहृद् आप्त पुरुष की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझ को सब का मित्र बना । जिस से (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणिमात्र मुझ को मित्र की दृष्टि से (समीक्षन्ताम्) देखें, और (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि भूतानि) सब जीवों को (समीक्षे) देखूं । इस प्रकार

जिस से यह सर्व जगत् ओतप्रोत व्याप्त हो रहा है । वह सब जगत् का कर्त्ता, वही पूर्वकल्प और उत्तरकल्प में भी जगत् को बनाता है । उस के जानने की इच्छा से उस को जानकर हे संन्यासिन् ! तू पुनः-पुनः मृत्यु को प्राप्त मत हो, किन्तु मुक्ति के पूर्ण सुख को प्राप्त हो । इसलिए सब तपों का तप, सब से पृथक् उत्तम संन्यास को कहते हैं । हे परमेश्वर ! जो तू सब में वास करता हुआ विभु है, तू प्राण का प्राण, सब का सन्धान करनेहारा, विश्व का स्रष्टा, धर्त्ता, सूर्यादि को तेजदाता है । तू ही अग्नि से तेजस्वी, तू ही विद्यादाता, तू ही सूर्य का कर्त्ता, तू ही चन्द्रमा के प्रकाश का प्रकाशक है । वह सब से बड़ा पूजनीय देव है । (ओम्) इस मन्त्र का मन से उच्चारण करके परमात्मा में आत्मा को युक्त करे । जो इस विद्वानों की ग्राह्य महोत्तम विद्या को उक्त प्रकार से जानता है, वह संन्यासी परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर आनन्द में रहता है ।

**ओम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा ॥२॥**

**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥३॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकऽ एकत्वमनुपश्यतः ॥४॥**

—यजु० अ० ४० । मं० १६, ६, ७ ॥

आप की कृपा और अपने पुरुषार्थ से हम लोग एक-दूसरे को (मित्रस्य चक्षुषा) सुहृद्भाव की दृष्टि से (समीक्षामहे) देखते रहें ॥१॥

हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप, सब दुःखों के दाहक, (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! (विद्वान्) आप (राये) योग के विज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिए (सुपथा) वेदोक्त धर्ममार्ग से (अस्मान्) हम को (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) कृपा से प्राप्त कीजिये और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल पक्षपातसहित (एनः) अपराध पाप कर्म को (युयोधि) दूर रखिये और इस अधर्माचरण से हम को सदा दूर रखिये । इसीलिए (ते) आप ही की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार (नमउक्तिम्) नमस्कारपूर्वक प्रशंसा को नित्य (विधेम) किया करें ॥२॥

(यः) जो संन्यासी (तु) पुनः (आत्मन्नेव) आत्मा में अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य (सर्वाणि भूतानि) सम्पूर्ण जीव और जगत्स्थ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से देखता है, (च) और (सर्वभूतेषु) सम्पूर्ण प्राणी अप्राणियों में (आत्मानम्) परमात्मा को देखता है, (ततः) इस कारण वह किसी व्यवहार में (न विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वसाक्षी जानके अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणीमात्र को हानि-लाभ सुख-दुःखादि व्यवस्था में देखे, वही उत्तम संन्यास-धर्म को प्राप्त होता है ॥३॥

(विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त संन्यास में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणीमात्र (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना, अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है, उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है, (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वमनुपश्यतः) आत्मा के एकभाव को देखनेवाले संन्यासी को (को मोहः) कौन सा मोह और (कः शोकः) कौन सा शोक होता

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥५॥

—यजु० अ० ३२ । मं० ११ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥६॥

—ऋ० म० १। सूक्त १६४ । मं० ३९॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥७॥

—कठवल्ली ॥

है ? अर्थात् न उस को किसी से कभी मोह और न शोक होता है। इसलिए संन्यासी मोह–शोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब का उपकार करता रहे ॥४॥

इस प्रकार परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और धर्म में दृढ़ निष्ठा करके, जो (भूतानि) सम्पूर्ण पृथिव्यादि भूतों में (परीत्य) व्याप्त (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों में (परीत्य) पूर्ण हो, और (सर्वाः) सब (प्रदिशो दिशश्च) दिशा और उपदिशाओं में (परीत्य) व्यापक होके स्थित है, (ऋतस्य) सत्यकारण के योग से (प्रथमजाम्) सब महत्तत्त्वादि सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है, उस (आत्मानम्) परमात्मा को संन्यासी (आत्मना) स्वात्मा से (उपस्थाय) समीप स्थित होकर उस में (अभिसंविवेश) प्रतिदिन समाधियोग से प्रवेश किया करे ॥५॥

हे संन्यासी लोगो ! (यस्मिन्) जिस (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत् व्यापक (अक्षरे) नाशरहित परमात्मा में (ऋचः) ऋग्वेदादि वेद और (विश्वे) सब (देवाः) पृथिव्यादि लोक और समस्त विद्वान् (अधिनिषेदुः) स्थित हुए और होते हैं, (यः) जो जन (तत्) उस व्यापक परमात्मा को (न वेद) नहीं जानता, वह (ऋचा) वेदादि शास्त्र पढ़ने से (किं करिष्यति) क्या सुख वा लाभ कर लेगा ? अर्थात् विद्या के विना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता । और विद्या पढ़के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उस की आज्ञा में चलता है, वह मनुष्य–शरीर धारण करके निष्फल चला जाता है और (ये) जो विद्वान् लोग (तत्) उस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं। (ते इमे इत्) वे ये ही उस परमात्मा में (समासते) अच्छे प्रकार समाधियोग से स्थिर होते हैं ॥६॥

(समाधिनिर्धूतमलस्य) समाधियोग से निर्मल (चेतसः) चित्त के सम्बन्ध से (आत्मनि) परमात्मा में (निवेशितस्य) निश्चल प्रवेश कराये

हुए जीव को (यत्) जो (सुखम्) सुख (भवेत्) होवे, वह (गिरा) वाणी से (वर्णयितुम् न शक्यते) कहा नहीं जा सकता। क्योंकि (तदा) तब वह समाधि में स्वयं स्थित जीवात्मा (तत्) उस ब्रह्म को (अन्तःकरणेन) शुद्ध अन्तःकरण से (गृह्यते) ग्रहण करता है, वह वर्णन करने में पूर्ण रीति से कभी नहीं आ सकता। इसलिए संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उस की आज्ञा अर्थात् पक्षपात-रहित न्याय-धर्म में स्थित होकर सत्योपदेश, सत्यविद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुंचाते रहें ॥७॥

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१॥
यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥२॥

अर्थ—संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इसलिए चाहे निन्दा चाहे प्रशंसा, चाहे मान चाहे अपमान, चाहे जीना चाहे मृत्यु, चाहे हानि चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे चाहे वैर बांधे, चाहे अन्न पान वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो, इत्यादि सब का सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे। इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने। परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे। न वेदविरुद्ध कुछ माने। परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने। आप सदा परमेश्वर को अपना स्वामी माने, और आप सेवक बना रहे। वैसा ही उपदेश अन्य को भी किया करे। जिस-जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो, वा माता, पिता पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पाड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बढ़े, उस-उस का उपदेश करे।

जो वेद से विरुद्ध मतमतान्तर के ग्रन्थ बायबल, कुरान, पुराण, मिथ्याभिलाप तथा काव्यालङ्कार कि जिन के पढ़ने-सुनने से मनुष्य विषयी और पतित हो जाते हैं, उन सब का निषेध करता रहे। विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्या, योगाभ्यास, सत्सङ्ग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ और विद्वानों की मूर्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्तियों को न माने, न मनवावे। वैसे ही गृहस्थों

को माता पिता आचार्य अतिथि, स्त्री के लिये विवाहित पुरुष और पुरुष के लिये विवाहित स्त्री की मूर्ति से भिन्न किसी की मूर्ति को पूज्य न समझावे, किन्तु वैदिक मत की उन्नति और वेदविरुद्ध पाखण्डमतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहे ।

वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा और तद्विरुद्ध ग्रन्थों वा मतों में अश्रद्धा किया कराया करे । आप शुभ गुण, कर्म, स्वभावयुक्त होकर सब को इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे और जो पूर्वोक्त उपदेश लिखे हैं, उन-उन अपने संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों को किया करे। खण्डनीय कर्मों का खण्डन करना कभी न छोड़े । आसुर अर्थात् अपने को ईश्वर ब्रह्म माननेवालों का भी यथावत् खण्डन करता रहे । परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और न्याय आदि गुणों का प्रकाश करता रहे । इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयम् आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रक्खे।

सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरिता, (सत्यम्) सत्य बोलना, सत्य मानना, सत्य करना, (अस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से अन्याय करके पर-पदार्थ का ग्रहण न करना चाहिये, न किसी को करने का उपदेश करे । (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय होकर अष्टविध मैथुन का त्याग रखके वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरञ्जीवी होकर सब का उपकार करता रहे। (अपरिग्रहः) अभिमानादि दोष रहित, किसी संसार के धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फंसे । इन पांच यमों का सेवन सदा किया करे और इन के साथ ५ पांच नियम अर्थात् (शौच) बाहर-भीतर से पवित्र रहना, (सन्तोष) पुरुषार्थ करते जाना और हानि-लाभ में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना । (तपः) सदा पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म का सेवन प्राणायामादि योगाभ्यास करना । (स्वाध्याय) **सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उस के अर्थ=ईश्वर का विचार करते रहना ।** (ईश्वर-प्रणिधान) अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीता हुआ भोगकर शरीर छोड़के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं ।

हे जगदीश्वर ! सर्वशक्तिमन्, सर्वान्तर्यामिन्, दयालो, न्यायकारिन्, सच्चिदानन्दानन्त नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, अजर, अमर, पवित्र, परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से संन्यासियों को पूर्वोक्त कर्मों में प्रवृत्त रखके परममुक्ति-सुख को प्राप्त कराते रहिए ।।

।। इति संन्याससंस्कारविधिः समाप्तः ।।

[१६]

अथान्त्येष्टिकर्मविधिं वक्ष्यामः

'अन्त्येष्टि' कर्म उस को कहते हैं कि जो शरीर के अन्त का संस्कार है, जिस के आगे उस शरीर के लिए कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग, पुरुषयाग भी कहते हैं ।

भस्मा॑न्तꣳ शरी॑रम् । —यजुः अ० ४० । मं० १५॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ॥ —मनु०

अर्थ—इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है ॥१॥

शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है ॥२॥

(प्रश्न) गरुडपुराण आदि में दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डी कर्म, मासिक, वार्षिक, गयाश्राद्ध आदि क्रिया लिखी हैं, क्या ये सब असत्य हैं ?

(उत्तर) हाँ, अवश्य मिथ्या हैं, क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है । इसलिए अकर्त्तव्य हैं और मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता, और न इन जीते हुए सम्बन्धियों का । वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है ।

(प्रश्न) मरण के पीछे जीव कहाँ जाता है ?

(उत्तर) यमालय को ।

(प्रश्न) यमालय किस को कहते हैं ?

(उत्तर) वाय्वालय को ।

(प्रश्न) वाय्वालय किस को कहते हैं ?

(उत्तर) अन्तरिक्ष को, जो कि यह पोल है ।

(प्रश्न) क्या गरुडपुराण आदि में यमलोक लिखा है वह झूठा है ?

(उत्तर) अवश्य मिथ्या है ।

(प्रश्न) पुनः संसार क्यों मानता है ?

(उत्तर) वेद के अज्ञान और उपदेश के न होने से । जो यम की कथा लिख रक्खी है, वह सब मिथ्या है, क्योंकि **'यम'** इतने पदार्थों

का नाम है—

षळिद् यमा ऋषयो देवजा इति ॥१॥

—ऋ० म० १। सू० १६४ । मं० १५॥

शकेम वाजिनो यमम् ॥२॥ —ऋ० म० २। सू० ५ । मं० १॥

यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥३॥

—ऋ० म० १०। सू० १४ । मं० १३॥

यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः ॥४॥

—यजु० अ० ८। मं० ५७॥

वाजिनं यमम् ॥५॥ —ऋ० म० ८। सू० २४ । मं० २२॥

यमं मातरिश्वानमाहुः ॥६॥ —ऋ० म० १। सू० १६४ । मं० ४६॥

अर्थ—यहां ऋतुओं का यम नाम ॥१॥

यहां परमेश्वर का नाम ॥२॥

यहां अग्नि का नाम ॥३॥

यहां वायु, विद्युत्, सूर्य के यम नाम हैं ॥४॥

यहां भी वेगवाला होने से वायु का नाम यम है ॥५॥

यहां परमेश्वर का नाम यम है ॥६॥

इत्यादि पदार्थों का नाम '**यम**' है । इसलिए पुराण आदि की सब कल्पना झूठी है ।

विधि—

संस्थिते भूमिभागं खानयेद् दक्षिणपूर्वस्यां दिशि दक्षिणापरस्यां वा ॥१॥

दक्षिणाप्रवणं प्राग्दक्षिणाप्रवणं वा प्रत्यग्दक्षिणाप्रवणमित्येके ॥२॥

यावानुद्बाहुकः पुरुषस्तावदायामम् ॥३॥

व्याममात्रं तिर्यक् ॥४॥

वितस्त्यर्वाक् ॥५॥

केशश्मश्रुलोमनखानीत्युक्तं पुरस्तात् ॥६॥

द्विगुल्फं बर्हिराज्यं च ॥७॥

दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम् ॥८॥

अथैतां दिशमग्नीन् नयन्ति यज्ञपात्राणि च ॥९॥

अर्थ—जब कोई मर जावे तब यदि पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो

तो स्त्रियां उस को स्नान करावें। चन्दनादि सुगन्धलेपन और नवीन वस्त्र धारण करावें। जितना उस के शरीर का भार हो उतना घृत यदि अधिक सामर्थ्य हो तो अधिक लेवें और जो महादरिद्र भिक्षुक हो कि जिस के पास कुछ भी नहीं है, उसे कोई श्रीमान् वा पञ्च बनके आध मन से कम घी न देवें, और श्रीमान् लोग शरीर के बराबर तोलके चन्दन, सेर भर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर, एक-एक मन घी के साथ सेर-सेर भर अगर-तगर और घृत में चन्दन का चूरा भी यथाशक्ति डाल कपूर, पलाश आदि के पूर्ण काष्ठ, शरीर के भार से दूनी सामग्री श्मशान में पहुंचावें। तत्पश्चात् मृतक को वहां श्मशान में ले जायें।

यदि प्राचीन वेदी बनी हुई न हो तो नवीन वेदी भूमि में खोदे। वह श्मशान का स्थान बस्ती से दक्षिण तथा आग्नेय अथवा नैर्ऋत्य कोण में हो, वहां भूमि को खोदे। मृतक के पग दक्षिण, नैर्ऋत्य अथवा आग्नेय कोण में रहें। शिर उत्तर ईशान वा वायव्य कोण में रहे ॥१॥

मृतक के पग की ओर वेदी के तले में नीचा और शिर की ओर थोड़ा ऊंचा रहे ॥२॥

उस वेदी का परिमाण पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे उतनी लम्बी और दोनों हाथों को लम्बे उत्तर दक्षिण पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो, अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ अथवा तीन हाथ ऊपर से चौड़ी होवे, और छाती के बराबर गहरी होवे ॥३॥

और नीचे आध हाथ अर्थात् एक बीता भर रहे [॥४॥]

उस वेदी में थोड़ा-थोड़ा जल छिटकावे। यदि गोमय उपस्थित हो तो लेपन भी करदे। उस में नीचे से आधी वेदी तक लकड़ियाँ चिने, जैसे कि भित्ती में ईंटे चिनी जाती हैं, अर्थात् बराबर जमाकर लकड़ियाँ धरे। लकड़ियों के बीच में थोड़ा-थोड़ा कपूर थोड़ी-थोड़ी दूर पर रक्खे। उस के ऊपर मध्य में मृतक को रक्खे, अर्थात् चारों ओर वेदी बराबर खाली रहे। और पश्चात् चारों ओर और ऊपर चन्दन तथा पलाश आदि के काष्ठ बराबर चिने। वेदी से ऊपर एक बीता भर लकड़ियाँ चिने।

जब तक यह क्रिया होवे, तब तक अलग चूल्हा बना अग्नि जला घी तपा और छानकर पात्रों में रक्खे। उसमें कस्तूरी आदि सब पदार्थ मिलावे। लम्बी-लम्बी लकड़ियों में चार चमसों को, चाहे वे लकड़ी के हों वा चांदी सोने के अथवा लोहे के हों, जिस चमसा में एक छटांकभर से अधिक और आधी छटांक भर से न्यून घृत न आवे, खूब दृढ़ बन्धनों से डण्डों के साथ बांधे। पश्चात् घृत का दीपक करके कपूर में लगाकर शिर से आरम्भ कर पादपर्यन्त मध्य-मध्य में अग्नि-

प्रवेश करावे । अग्नि-प्रवेश कराके-

ओमग्नये स्वाहा ॥१॥
ओं सोमाय स्वाहा ॥२॥
ओं लोकाय स्वाहा ॥३॥
ओमनुमतये स्वाहा ॥४॥
ओं स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥५॥

इन ५ पांच मन्त्रों से आहुतियां देके अग्नि को प्रदीप्त होने देवे। तत्पश्चात् ४ चार मनुष्य पृथक्-पृथक् खड़े रहकर वेदों के मन्त्रों से आहुति देते जायें जहां 'स्वाहा' आवे वहां आहुति छोड़ देवें ।

अथ वेदमन्त्राः

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥१॥
अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकं स्वाहा ॥२॥
अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः ।
आयुर्वसान उपवेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः स्वाहा ॥३॥
अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व संप्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च ।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते स्वाहा ॥४॥
यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः ।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा स्वाहा ॥५॥

—ऋ० म० १० । सू० १६ । मं० ३-५, ७, १३ ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य स्वाहा ॥६॥
यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः स्वाहा ॥७॥
मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति स्वाहा ॥८॥
इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व स्वाहा ॥९॥

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य स्वाहा ॥१०॥
प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवं स्वाहा ॥११॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः स्वाहा ॥१२॥
अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै स्वाहा ॥१३॥
यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः स्वाहा ॥१४॥
यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
सं नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे स्वाहा ॥१५॥
यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः स्वाहा ॥१६॥

—ऋ० मं० १० । सू० १४ । मं० १–५, ७–९, १३–१५॥

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान् ।
हिरण्यरूपं जनिता जजान स्वाहा ॥१७॥

—ऋ० म० १० । सू० २० । मं० ९॥

इन ऋग्वेद के मन्त्रों से चारों जने सत्रह-सत्रह आज्याहुति देकर, निम्नलिखित मन्त्रों से उसी प्रकार आहुति देवें—

प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा ॥१॥

पृथिव्यै स्वाहा ॥२॥ **अग्नये स्वाहा ॥३॥**
अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥४॥ **वायवे स्वाहा ॥५॥**
दिवे स्वाहा ॥६॥ **सूर्याय स्वाहा ॥७॥**
दिग्भ्यः स्वाहा ॥८॥ **चन्द्राय स्वाहा ॥९॥**
नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥१०॥ **अद्भ्यः स्वाहा ॥११॥**
वरुणाय स्वाहा ॥१२॥ **नाभ्यै स्वाहा ॥१३॥**
पूताय स्वाहा ॥१४॥ **वाचे स्वाहा ॥१५॥**
प्राणाय स्वाहा ॥१६॥ **प्राणाय स्वाहा ॥१७॥**
चक्षुषे स्वाहा ॥१८॥ **चक्षुषे स्वाहा ॥१९॥**

श्रोत्राय स्वाहा ॥२०॥
श्रोत्राय स्वाहा ॥२१॥
लोमभ्यः स्वाहा ॥२२॥
लोमभ्यः स्वाहा ॥२३॥
त्वचे स्वाहा ॥२४॥
त्वचे स्वाहा ॥२५॥
लोहिताय स्वाहा ॥२६॥
लोहिताय स्वाहा ॥२७॥
मेदोभ्यः स्वाहा ॥२८॥
मेदोभ्यः स्वाहा ॥२९॥
माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥३०॥
माꣳसेभ्यः स्वाहा ॥३१॥
स्नावभ्यः स्वाहा ॥३२॥
स्नावभ्यः स्वाहा ॥३३॥
अस्थभ्यः स्वाहा ॥३४॥
अस्थभ्यः स्वाहा ॥३५॥
मज्जभ्यः स्वाहा ॥३६॥
मज्जभ्यः स्वाहा ॥३७॥
रेतसे स्वाहा ॥३८॥
पायवे स्वाहा ॥३९॥
आयासाय स्वाहा ॥४०॥
प्रायासाय स्वाहा ॥४१॥
संयासाय स्वाहा ॥४२॥
वियासाय स्वाहा ॥४३॥
उद्यासाय स्वाहा ॥४४॥
शुचे स्वाहा ॥४५॥
शोचते स्वाहा ॥४६॥
शोचमानाय स्वाहा ॥४७॥
शोकाय स्वाहा ॥४८॥
तपसे स्वाहा ॥४९॥
तप्यते स्वाहा ॥५०॥
तप्यमानाय स्वाहा ॥५१॥
तप्ताय स्वाहा ॥५२॥
घर्माय स्वाहा ॥५३॥
निष्कृत्यै स्वाहा ॥५४॥
प्रायश्चित्यै स्वाहा ॥५५॥
भेषजाय स्वाहा ॥५६॥
यमाय स्वाहा ॥५७॥
अन्तकाय स्वाहा ॥५८॥
मृत्यवे स्वाहा ॥५९॥
ब्रह्मणे स्वाहा ॥६०॥
ब्रह्महत्यायै स्वाहा ॥६१॥
विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥६२॥
द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहा ॥६३॥ —यजुः० अ० ३९ ॥

इन ६३ तिरसठ मन्त्रों से ६३ तिरसठ आहुति पृथक्-पृथक् देके, निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें—

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥१॥

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥२॥

ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषींस्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् स्वाहा ॥३॥

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥४॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥५॥
स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः स्वाहा ॥६॥
अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार स्वाहा ॥७॥
यमः परोऽवरो विवस्वांस्ततः परं नाति पश्यामि किं चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान स्वाहा ॥८॥
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः स्वाहा ॥९॥
इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् स्वाहा ॥१०॥

—अथर्व० का० १८ । सू० २॥

इन दश मन्त्रों से दश आहुति देकर—

अग्नये रयिमते स्वाहा ॥१॥
पुरुषस्य सयावर्यपेदघानि मृज्महे ।
यथा नो अत्र नापरः पुरा जरस आयति स्वाहा ॥२॥
य एतस्य पथो गोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा ॥३॥
य एतस्य पथो रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥४॥
य एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥५॥
ख्यात्रे स्वाहा ॥६॥
अपाख्यात्रे स्वाहा ॥७॥
अभिलालपते स्वाहा ॥८॥
अपलालपते स्वाहा ॥९॥
अग्नये कर्मकृते स्वाहा ॥१०॥
यमत्र नाधीमस्तस्मै स्वाहा ॥११॥
अग्नये वैश्वानराय सुवर्गाय लोकाय स्वाहा ॥१२॥

आयातु देवः सुमनाभिरूतिभिर्यमो ह वेह प्रयताभिरक्ता।
आसीदताꣳसुप्रयतेह बर्हिष्यूर्जाय जात्यै मम शत्रुहत्यै स्वाहा ॥१३॥
योऽस्य कौष्ठ्य जगतः पार्थिवस्यैक इद्वशी ।
यमं भङ्ग्यश्रवो गाय यो राजाऽनपरोध्यः स्वाहा ॥१४॥
यमं गाय भङ्ग्यश्रवो यो राजाऽनपरोध्यः ।
येनाऽऽपो नद्यो धन्वानि येन द्यौः पृथिवी दृढा स्वाहा ॥१५॥
हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान् ।
अश्वाननः शतो दानं यमो राजाभितिष्ठति स्वाहा ॥१६॥
यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत् ।
यमाय सर्वमित्तस्थे यत् प्राणद्वायुरक्षितं स्वाहा ॥१७॥
यथा पञ्च यथा षड् यथा पञ्चदशर्षयः ।
यमं यो विद्यात् स ब्रूयाद्यथैक ऋषिर्विजानते स्वाहा ॥१८॥
त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
गायत्री त्रिष्टुप् छन्दाꣳसि सर्वा ता यम आहिता स्वाहा ॥१९॥
अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत् ।
वैवस्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः स्वाहा॥२०॥
वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः ।
ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः स्वाहा ॥२१॥
ते राजन्निह विविच्यन्तेऽथा यन्ति त्वामुप ।
देवांश्च ये नमस्यन्ति ब्राह्मणांश्चापचित्यति स्वाहा ॥२२॥
यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणा अनुवेनति स्वाहा ॥२३॥
उत्ते तभ्नोमि पृथिवीं त्वत्परीमं लोक निदधन्मो अहꣳरिषम्।
एताꣳ स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादनात् ते मिनोतु स्वाहा॥२४
यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्त्तव ऋतुभिर्यन्ति क्लृप्ताः ।
यथा नः पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूꣳषि कल्पयैषाꣳ स्वाहा ॥२५॥
न हि ते अग्ने तनुवै क्रूरं चकार मर्त्यः ।
कपिर्बभस्ति तेजनं पुनर्जरायुर्गौरिव ।
अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुध्या रयिम् ।
अप नः शोशुचदघं मृत्यवे स्वाहा ॥२६॥

—तैत्ति० प्रपा० ६। अनु० १।१०॥

इन २६ छब्बीस आहुतियों को करके, ये सब **(ओम् अग्नये स्वाहा) इस मन्त्र से लेके (मृत्यवे स्वाहा) तक १२१ एक सौ इक्कीस आहुति** हुईं, अर्थात् ४ चार जनों की मिलके ४८४ चार सौ चौरासी और जो दो जने आहुति देवें तो २४२ दो सौ बयालीस । यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं १२१ एक सौ इक्कीस मन्त्रों से आहुति देते जायें, यावत् शरीर भस्म न हो जाय तावत् देवें ।

जब शरीर भस्म हो जावे, पुनः सब जने **वस्त्र प्रक्षालन स्नान करके जिस के घर में मृत्यु हुआ हो उस के घर की मार्जन, लेपन, प्रक्षालनादि से शुद्धि करके, पृष्ठ ७-११ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ और पृष्ठ ४-६ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करके, इन्हीं स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से, जहां अङ्क, अर्थात् मन्त्र पूरा हो, वहां 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर में देवें** कि जिस से मृतक का वायु घर से निकल जाय और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सब का चित्त प्रसन्न रहे । **यदि उस दिन रात्रि हो जाये तो थोड़ी सी [आहुति] देकर, दूसरे दिन प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से आहुति देवें ।**

तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर चिता से अस्थि उठाके उस श्मशान भूमि में कहीं पृथक् रख देवे । **बस, इसके आगे मृतक के लिये कुछ भी कर्म कर्तव्य नहीं है,** क्योंकि पूर्व **(भस्मान्तꣳ शरीरम्)** यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका है कि दाहकर्म और अस्थिसञ्चयन से पृथक् मृतक के लिए दूसरा कोई भी कर्म-कर्त्तव्य नहीं है । हां, यदि वह सम्पन्न हो तो अपने जीते जी, वा मरे पीछे उस के सम्बन्धी वेदविद्या वेदोक्त धर्म का प्रचार, अनाथपालन, वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिए चाहे जितना धन प्रदान करें, बहुत अच्छी बात है ।।

इति मृतक-संस्कारविधिः समाप्तः ।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्द-सरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां शिष्यस्य वेदविहिताचारधर्म-निरूपकस्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः कृतौ संस्कारविधिर्ग्रन्थः पूर्तिमगात् ।।१।।

❑❑❑